"અહો ! શ્રુતજ્ઞાનમ્" ગ્રંથ જીર્ણોદ્ધાર ૧૬૪

ભારતિય સંપાદન શાસ્ત્ર

: દ્રવ્ય સહાયક :

પૂજ્ય સાગરજી મહારાજના સમુદાયના
પૂ. શ્રી સૌભાગ્યચંદ્રસાગરજી મ.સા.ની પ્રેરણાથી
શેઠ શ્રી કલ્યાણજી સોભાગચંદજીની પેઢી,
પીંડવાડા (રાજસ્થાન) ના જ્ઞાનદ્રવ્યમાંથી

: સંયોજક :

શાહ બાબુલાલ સરેમલ બેડાવાળા
શ્રી આશાપૂરણ પાર્શ્વનાથ જૈન જ્ઞાનભંડાર
શા. વિમળાબેન સરેમલ જવેરચંદજી બેડાવાળા ભવન
હીરાજૈન સોસાયટી, સાબરમતી, અમદાવાદ-૫
(મો.) 9426585904 (ઓ.) 22132543

સંવત ૨૦૬૯ ઈ. ૨૦૧૩

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

संयोजक – शाह बाबुलाल सरेमल - (मो.) 9426585904 (ओ.) 22132543 - ahoshrut.bs@gmail.com
शाह वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन
हीराजैन सोसायटी, रामनगर, साबरमती, अमदावाद-05.

अहो श्रुतज्ञानम् ग्रंथ जीर्णोद्धार – संवत २०६५ (ई. 2009) सेट नं.-१

प्रायः अप्राप्य प्राचीन पुस्तकों की स्केन डीवीडी बनाई उसकी सूची। *यह पुस्तके www.ahoshrut.org वेबसाइट से भी डाउनलोड कर सकते हैं।*

ક્રમાંક	પુસ્તકનું નામ	કર્త્તા-ટીકાકાર-સંપાદક	પૃષ્ઠ
001	श्री नंदीसूत्र अवचूरी	पू. विक्रमसूरिजी म.सा.	238
002	श्री उत्तराध्ययन सूत्र चूर्णी	पू. जिनदासगणि चूर्णीकार	286
003	श्री अर्हद्गीता-भगवद्गीता	पू. मेघविजयजी गणि म.सा.	84
004	श्री अर्हच्चूडामणि सारसटीकः	पू. भद्रबाहुस्वामी म.सा.	18
005	श्री यूक्ति प्रकाशसूत्रं	पू. पद्मसागरजी गणि म.सा.	48
006	श्री मानतुङ्गशास्त्रम्	पू. मानतुंगविजयजी म.सा.	54
007	अपराजितपृच्छा	श्री बी. भट्टाचार्य	810
008	शिल्प स्मृति वास्तु विद्यायाम्	श्री नंदलाल चुनिलाल सोमपुरा	850
009	शिल्परत्नम् भाग-१	श्रीकुमार के. सभात्सव शास्त्री	322
010	शिल्परत्नम् भाग-२	श्रीकुमार के. सभात्सव शास्त्री	280
011	प्रासादतिलक	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	162
012	काश्यशिल्पम्	श्री विनायक गणेश आपटे	302
013	प्रासादमञ्जरी	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	156
014	राजवल्लभ याने शिल्पशास्त्र	श्री नारायण भारती गोंसाई	352
015	शिल्पदीपक	श्री गंगाधरजी प्रणीत	120
016	वास्तुसार	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	88
017	दीपार्णव उत्तरार्ध	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	110
018	જિનપ્રાસાદ માર્તણ્ડ	શ્રી નંદલાલ ચુનીલાલ સોમપુરા	498
019	जैन ग्रंथावली	श्री जैन श्वेताम्बर कोन्फ्रन्स	502
020	હીરકલશ જૈન જ્યોતિષ	શ્રી હિમ્મતરામ મહાશંકર જાની	454
021	न्यायप्रवेशः भाग-१	श्री आनंदशंकर बी. ध्रुव	226
022	दीपार्णव पूर्वार्ध	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	640
023	अनेकान्त जयपताकाख्यं भाग-१	पू. मुनिचंद्रसूरिजी म.सा.	452
024	अनेकान्त जयपताकाख्यं भाग-२	श्री एच. आर. कापडीआ	500
025	प्राकृत व्याकरण भाषांतर सह	श्री बेचरदास जीवराज दोशी	454
026	तत्त्पोपप्लवसिंहः	श्री जयराशी भट्ट, बी. भट्टाचार्य	188
027	शक्तिवादादर्शः	श्री सुदर्शनाचार्य शास्त्री	214
028	क्षीरार्णव	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	414
029	वेधवास्तु प्रभाकर	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	192

030	**शिल्परत्नाकर**	**श्री नर्मदाशंकर शास्त्री**	**824**
031	**प्रासाद मंडन**	**पं. भगवानदास जैन**	**288**
032	**श्री सिद्धहेम बृहद्वृत्ति बृहन्न्यास अध्याय-१**	**पू. लावण्यसूरिजी म.सा.**	**520**
033	**श्री सिद्धहेम बृहद्वृत्ति बृहन्न्यास अध्याय-२**	**पू. लावण्यसूरिजी म.सा.**	**578**
034	**श्री सिद्धहेम बृहद्वृत्ति बृहन्न्यास अध्याय-३ (१)**	**पू. लावण्यसूरिजी म.सा.**	**278**
035	**श्री सिद्धहेम बृहद्वृत्ति बृहन्न्यास अध्याय-3 (२) (३)**	**पू. लावण्यसूरिजी म.सा.**	**252**
036	**श्री सिद्धहेम बृहद्वृत्ति बृहन्न्यास अध्याय-५**	**पू. लावण्यसूरिजी म.सा.**	**324**
037	વાસ્તુનિઘંટુ	પ્રભાશંકર ઓઘડભાઈ સોમપુરા	302
038	તિલકમઞ્જરી ભાગ-૧	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	196
039	તિલકમઞ્જરી ભાગ-૨	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	190
040	તિલકમઞ્જરી ભાગ-૩	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	202
041	સપ્તસન્ધાન મહાકાવ્યમ્	પૂ. વિજયઅમૃતસૂરિશ્વરજી	480
042	સપ્તભઙ્ગીમિમાંસા	પૂ. પં. શિવાનન્દવિજયજી	228
043	ન્યાયાવતાર	સતિષચંદ્ર વિદ્યાભૂષણ	60
044	વ્યુત્પત્તિવાદ ગુઢાર્થતત્ત્વાલોક	શ્રી ધર્મદત્તસૂરિ (બચ્છા ઝા)	218
045	સામાન્યનિર્યુક્તિ ગુઢાર્થતત્ત્વાલોક	શ્રી ધર્મદત્તસૂરિ (બચ્છા ઝા)	190
046	સપ્તભઙ્ગીનયપ્રદીપ બાલબોધિનીવિવૃત્તિઃ	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	138
047	વ્યુત્પત્તિવાદ શાસ્ત્રાર્થકલા ટીકા	શ્રીવેણીમાધવ શાસ્ત્રી	296
048	નયોપદેશ ભાગ-૧ તરઙ્ગિણીતરણી	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	210
049	નયોપદેશ ભાગ-૨ તરઙ્ગિણીતરણી	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	274
050	ન્યાયસમુચ્ચય	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	286
051	સ્યાદ્યાર્થપ્રકાશઃ	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	216
052	દિન શુદ્ધિ પ્રકરણ	પૂ. દર્શનવિજયજી	532
053	બૃહદ્ ધારણા યંત્ર	પૂ. દર્શનવિજયજી	113
054	જ્યોતિર્મહોદય	સં. પૂ. અક્ષયવિજયજી	112

શ્રી આશાપૂરણ પાર્શ્વનાથ જૈન જ્ઞાનભંડાર

સંયોજક – બાબુલાલ સરેમલ શાહ

શાહ વીમળાબેન સરેમલ જવેરચંદજી બેડાવાળા ભવન

હીરાજૈન સોસાયટી, રામનગર, સાબરમતી, અમદાવાદ-૦૫.

(મો.) ૯૪૨૬૫૮૫૯૦૪ (ઓ) ૨૨૧૩૨૫૪૩ (ઇ-મેલ) ahoshrut.bs@gmail.com

અહો શ્રુતજ્ઞાનમ્ ગ્રંથ જીર્ણોદ્ધાર – સંવત ૨૦૬૬ (ઈ. ૨૦૧૦) – સેટ નં-૨

પ્રાયઃ જીર્ણ અપ્રાપ્ય પુસ્તકોને સ્કેન કરાવીને ડી.વી.ડી. બનાવી તેની યાદી.

આ પુસ્તકો www.ahoshrut.org વેબસાઇટ પરથી પણ ડાઉનલોડ કરી શકાશે.

ક્રમ	પુસ્તકનું નામ	ભાષા	કર્તા-ટીકાકાર-સંપાદક	પૃષ્ઠ
055	श्री सिद्धहेम बृहद्वृत्ति बृहद्न्यास अध्याय-६	सं	पू. लावण्यसूरिजी म.सा.	296
056	विविध तीर्थ कल्प	सं	पू. जिनविजयजी म.सा.	160
057	ભારતીય જૈન શ્રમણ સંસ્કૃતિ અને લેખનકળા	ગુજ.	पू. पूण्यविजयजी म.सा.	164
058	सिद्धान्तलक्षणगूढार्थ तत्त्वलोकः	सं	श्री धर्मदत्तसूरि	202
059	व्याप्ति पञ्चक विवृत्ति टीका	सं	श्री धर्मदत्तसूरि	48
060	જૈન સંગીત રાગમાળા	ગુ.	श्री मांगरोळ जैन संगीत मंडळी	306
061	चतुर्विंशतीप्रबन्ध (प्रबंध कोश)	सं	श्री रसिकलाल एच. कापडीआ	322
062	व्युत्पत्तिवाद आदर्श व्याख्यया संपूर्ण ६ अध्याय	सं	श्री सुदर्शनाचार्य	668
063	चन्द्रप्रभा हेमकौमुदी	सं	पू. मेघविजयजी गणि	516
064	विवेक विलास	सं/ગુ.	श्री दामोदर गोविंदाचार्य	268
065	पञ्चशती प्रबोध प्रबंध	सं	पू. मृगेन्द्रविजयजी म.सा.	456
066	सन्मतितत्त्वसोपानम्	सं	पू. लब्धिसूरिजी म.सा.	420
067	ઉપદેશમાલા દોઘટ્ટી ટીકા ગુર્જરાનુવાદ	ગુજ.	पू. हेमसागरसूरिजी म.सा.	638
068	मोहराजापराजयम्	सं	पू. चतुरविजयजी म.सा.	192
069	क्रियाकोश	सं/हिं	श्री मोहनलाल बांठिया	428
070	कालिकाचार्यकथासंग्रह	सं/ગુ.	श्री अंबालाल प्रेमचंद	406
071	सामान्यनिरुक्ति चंद्रकला कलाविलास टीका	सं.	श्री वामाचरण भट्टाचार्य	308
072	जन्मसमुद्रजातक	सं/हिं	श्री भगवानदास जैन	128
073	मेघमहोदय वर्षप्रबोध	सं/हिं	श्री भगवानदास जैन	532
074	જૈન સામુદ્રિકનાં પાંચ ગ્રંથો	ગુજ.	श्री हिम्मतराम महाशंकर जानी	376

075	જૈન ચિત્ર કલ્પદ્રૂમ ભાગ-૧	ગુજ.	**श्री साराभाई नवाब**	374
076	જૈન ચિત્ર કલ્પદ્રૂમ ભાગ-૨	ગુજ.	**श्री साराभाई नवाब**	238
077	સંગીત નાટ્ય રૂપાવલી	ગુજ.	**श्री विद्या साराभाई नवाब**	194
078	ભારતનાં જૈન તીર્થો અને તેનું શિલ્પસ્થાપત્ય	ગુજ.	**श्री साराभाई नवाब**	192
079	શિલ્પ ચિન્તામણિ ભાગ-૧	ગુજ.	**श्री मनसुखलाल भुदरमल**	254
080	બૃહદ્ શિલ્પ શાસ્ત્ર ભાગ-૧	ગુજ.	**श्री जगन्नाथ अंबाराम**	260
081	બૃહદ્ શિલ્પ શાસ્ત્ર ભાગ-૨	ગુજ.	**श्री जगन्नाथ अंबाराम**	238
082	બૃહદ્ શિલ્પ શાસ્ત્ર ભાગ-૩	ગુજ.	**श्री जगन्नाथ अंबाराम**	260
083	આયુર્વેદના અનુભૂત પ્રયોગો ભાગ-૧	ગુજ.	**पू. कान्तिसागरजी**	114
084	કલ્યાણ કારક	ગુજ.	**श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री**	910
085	**विश्वलोचन कोश**	सं./हिं	**श्री नंदलाल शर्मा**	436
086	કથા રત્ન કોશ ભાગ-1	ગુજ.	**श्री बेचरदास जीवराज दोशी**	336
087	કથા રત્ન કોશ ભાગ-2	ગુજ.	**श्री बेचरदास जीवराज दोशी**	230
088	હસ્તસઞ્જીવનમ્	સં.	**पू. मेघविजयजीगणि**	322
089	એન્દ્રચતુર્વિંશતિકા	સં.	**पू.यशोविजयजी, पू. पुण्यविजयजी**	114
090	સમ્મતિ તર્ક મહાર્ણવાવતારિકા	સં.	**आचार्य श्री विजयदर्शनसूरिजी**	560

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

संयोजक – शाह बाबुलाल सरेमल - (मो.) 9426585904 (ओ.) 22132543 - ahoshrut.bs@gmail.com

शाह वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन

हीराजैन सोसायटी, रामनगर, साबरमती, अमदावाद-05.

अहो श्रुतज्ञानम् ग्रंथ जीर्णोद्धार – संवत २०६७ (ई. 2011) सेट नं.-३

प्रायः अप्राप्य प्राचीन पुस्तकों की स्केन डीवीडी बनाई उसकी सूची। *यह पुस्तके www.ahoshrut.org वेबसाइट से भी डाउनलोड कर सकते हैं।*

क्रम	पुस्तक नाम	कर्त्ता / टीकाकार	भाषा	संपादक / प्रकाशक	पृष्ठ
91	स्याद्वाद रत्नाकर भाग-१	वादिदेवसूरिजी	सं.	मोतीलाल लाघाजी पुना	272
92	स्याद्वाद रत्नाकर भाग-२	वादिदेवसूरिजी	सं.	मोतीलाल लाघाजी पुना	240
93	स्याद्वाद रत्नाकर भाग-३	वादिदेवसूरिजी	सं.	मोतीलाल लाघाजी पुना	254
94	स्याद्वाद रत्नाकर भाग-४	वादिदेवसूरिजी	सं.	मोतीलाल लाघाजी पुना	282
95	स्याद्वाद रत्नाकर भाग-५	वादिदेवसूरिजी	सं.	मोतीलाल लाघाजी पुना	118
96	पवित्र कल्पसूत्र	पुण्यविजयजी	सं./अं	साराभाई नवाब	466
97	समराङ्गण सूत्रधार भाग-१	भोजदेव	सं.	टी. गणपति शास्त्री	342
98	समराङ्गण सूत्रधार भाग-२	भोजदेव	सं.	टी. गणपति शास्त्री	362
99	भुवनदीपक	पद्मप्रभसूरिजी	सं.	वेंकटेश प्रेस	134
100	गाथासहस्त्री	समयसुंदरजी	सं.	सुखलालजी	70
101	भारतीय प्राचीन लिपीमाला	गौरीशंकर ओझा	हिन्दी	मुन्शीराम मनोहरराम	316
102	शब्दरत्नाकर	साधुसुन्दरजी	सं.	हरगोविन्ददास बेचरदास	224
103	सुबोधवाणी प्रकाश	न्यायविजयजी	सं./गु	हेमचंद्राचार्य जैन सभा	612
104	लघु प्रबंध संग्रह	जयंत पी. ठाकर	सं.	ओरीएन्ट इन्स्टीट्युट बरोडा	307
105	जैन स्तोत्र संचय-१-२-३	माणिक्यसागरसूरिजी	सं,	आगमोद्धारक सभा	250
106	सन्मति तर्क प्रकरण भाग-१,२,३	सिद्धसेन दिवाकर	सं.	सुखलाल संघवी	514
107	सन्मति तर्क प्रकरण भाग-४,५	सिद्धसेन दिवाकर	सं.	सुखलाल संघवी	454
108	न्यायसार – न्यायतात्पर्यदीपिका	सतिषचंद्र विद्याभूषण	सं.	एसियाटीक सोसायटी	354
109	जैन लेख संग्रह भाग-१	पुरणचंद्र नाहर	सं./हि	पुरणचंद्र नाहर	337
110	जैन लेख संग्रह भाग-२	पुरणचंद्र नाहर	सं./हि	पुरणचंद्र नाहर	354
111	जैन लेख संग्रह भाग-३	पुरणचंद्र नाहर	सं./हि	पुरणचंद्र नाहर	372
112	जैन धातु प्रतिमा लेख भाग-१	कांतिविजयजी	सं./हि	जिनदत्तसूरि ज्ञानभंडार	142
113	जैन प्रतिमा लेख संग्रह	दौलतसिंह लोढा	सं./हि	अरविन्द धामणिया	336
114	राधनपुर प्रतिमा लेख संदोह	विशालविजयजी	सं./गु	यशोविजयजी ग्रंथमाळा	364
115	प्राचिन लेख संग्रह-१	विजयधर्मसूरिजी	सं./गु	यशोविजयजी ग्रंथमाळा	218
116	बीकानेर जैन लेख संग्रह	अगरचंद नाहटा	सं./हि	नाहटा ब्रधर्स	656
117	प्राचीन जैन लेख संग्रह भाग-१	जिनविजयजी	सं./हि	जैन आत्मानंद सभा	122
118	प्राचिन जैन लेख संग्रह भाग-२	जिनविजयजी	सं./हि	जैन आत्मानंद सभा	764
119	गुजरातना ऐतिहासिक लेखो-१	गिरजाशंकर शास्त्री	सं./गु	फार्बस गुजराती सभा	404
120	गुजरातना ऐतिहासिक लेखो-२	गिरजाशंकर शास्त्री	सं./गु	फार्बस गुजराती सभा	404
121	गुजरातना ऐतिहासिक लेखो-३	गिरजाशंकर शास्त्री	सं./गु	फार्बस गुजराती सभा	540
122	ऑपरेशन इन सर्च ऑफ संस्कृत मेन्यु. इन मुंबई सर्कल-१	पी. पीटरसन	अं.	रॉयल एशियाटीक जर्नल	274
123	ऑपरेशन इन सर्च ऑफ संस्कृत मेन्यु. इन मुंबई सर्कल-४	पी. पीटरसन	अं.	रॉयल एशियाटीक जर्नल	414
124	ऑपरेशन इन सर्च ऑफ संस्कृत मेन्यु. इन मुंबई सर्कल-५	पी. पीटरसन	अं.	रॉयल एशियाटीक जर्नल	400
125	कलेक्शन ऑफ प्राकृत एन्ड संस्कृत इन्स्क्रीप्शन्स	पी. पीटरसन	अं.	भावनगर आर्चीऑलॉजीकल डिपा.	320
126	विजयदेव माहात्म्यम्	जिनविजयजी	सं.	जैन सत्य संशोधक	148

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

संयोजक – शाह बाबुलाल सरेमल - (मो.) 9426585904 (ओ.) 22132543 - ahoshrut.bs@gmail.com
शाह वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन
हीराजैन सोसायटी, रामनगर, साबरमती, अमदावाद-05.

अहो श्रुतज्ञानम् ग्रंथ जीर्णोद्धार – संवत २०६८ (ई. 2012) सेट नं.-४

प्रायः अप्राप्य प्राचीन पुस्तकों की स्केन डीवीडी बनाई उसकी सूची। *यह पुस्तके www.ahoshrut.org वेबसाइट से भी डाउनलोड कर सकते हैं।*

क्रम	पुस्तक नाम	कर्त्ता / संपादक	भाषा	प्रकाशक	पृष्ठ
127	महाप्रभाविक नवस्मरण	साराभाई नवाब	गुज.	साराभाई नवाब	754
128	जैन चित्र कल्पलता	साराभाई नवाब	गुज.	साराभाई नवाब	84
129	जैन धर्मनो प्राचीन इतिहास भाग-२	हीरालाल हंसराज	गुज.	हीरालाल हंसराज	194
130	ओपरेशन इन सर्च ओफ सं. मेन्यु. भाग-६	पी. पीटरसन	अंग्रेजी	एशियाटीक सोसायटी	171
131	जैन गणित विचार	कुंवरजी आणंदजी	गुज.	जैन धर्म प्रसारक सभा	90
132	दैवज्ञ कामधेनु (प्राचिन ज्योतिष ग्रंथ)	शील खंड	सं.	ब्रज. बी. दास बनारस	310
133	करण प्रकाशः	ब्रह्मदेव	सं./अं.	सुधाकर द्विवेदि	276
134	न्यायविशारद महो. यशोविजयजी स्वहस्तलिखित कृति संग्रह	यशोदेवसूरिजी	गुज.	यशोभारती प्रकाशन	69
135	भौगोलिक कोश-१	डाह्याभाई पीतांबरदास	गुज.	गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी	100
136	भौगोलिक कोश-२	डाह्याभाई पीतांबरदास	गुज.	गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी	136
137	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-१ अंक-१, २	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	266
138	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-१ अंक-३, ४	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	244
139	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-२ अंक-१, २	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	274
140	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-२ अंक-३, ४	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	168
141	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-३ अंक-१, २	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	282
142	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-३ अंक-३, ४	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	182
143	नवपदोनी आनुपूर्वी भाग-१	सोमविजयजी	गुज.	शाह बाबुलाल सवचंद	384
144	नवपदोनी आनुपूर्वी भाग-२	सोमविजयजी	गुज.	शाह बाबुलाल सवचंद	376
145	नवपदोनी आनुपूर्वी भाग-३	सोमविजयजी	गुज.	शाह बाबुलाल सवचंद	387
146	भाषवति	शतानंद मारछता	सं./हि	एच.बी. गुप्ता एन्ड सन्स बनारस	174
147	जैन सिद्धांत कौमुदी (अर्धमागधी व्याकरण)	रत्नचंद्र स्वामी	प्रा./सं.	भैरोदान सेठीया	320
148	मंत्रराज गुणकल्प महोदधि	जयदयाल शर्मा	हिन्दी	जयदयाल शर्मा	286
149	फक्कीका रत्नमंजूषा-१, २	कनकलाल ठाकूर	सं.	हरिकृष्ण निबंध	272
150	अनुभूत सिद्ध विशायंत्र (छ कल्प संग्रह)	मेघविजयजी	सं./गुज	महावीर ग्रंथमाळा	142
151	सारावलि	कल्याण वर्धन	सं.	पांडुरंग जीवाजी	260
152	ज्योतिष सिद्धांत संग्रह	विश्वेश्वरप्रसाद द्विवेदी	सं.	ब्रीजभूषणदास बनारस	232
153	ज्ञान प्रदीपिका तथा सामुद्रिक शास्त्रम्	रामव्यास पान्डेय	सं.	जैन सिद्धांत भवन	160
	नूतन संकलन				
१	आ. चंद्रसागरसूरिजी ज्ञानभंडार – उज्जैन	हस्तप्रत सूचीपत्र	हिन्दी	श्री आशापुरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार	
२	श्री गुजराती श्वे.मू. जैन संघ-हस्तप्रत भंडार – कलकत्ता	हस्तप्रत सूचीपत्र	हिन्दी	श्री आशापुरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार	

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

संयोजक – शाह बाबुलाल सरेमल - (मो.) 9426585904 (ओ.) 22132543 - ahoshrut.bs@gmail.com

शाह वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन

हीराजैन सोसायटी, रामनगर, साबरमती, अमदावाद-05.

अहो श्रुतज्ञानम् ग्रंथ जीर्णोद्धार – संवत २०६९ (ई. 2013) सेट नं.-५

प्रायः अप्राप्य प्राचीन पुस्तकों की स्केन डीवीडी बनाई उसकी सूची। *यह पुस्तके www.ahoshrut.org वेबसाइट से भी डाउनलोड कर सकते हैं।*

क्रम	पुस्तक नाम	कर्त्ता / संपादक	विषय	भाषा	संपादक / प्रकाशक	पृष्ठ
154	उणादि सूत्रो ओफ हेमचंद्राचार्य	पू. हेमचंद्राचार्य	व्याकरण	संस्कृत	जोहन क्रिष्टे	304
155	उणादि गण विवृत्ति	पू. हेमचंद्राचार्य	व्याकरण	संस्कृत	पू. मनोहरविजयजी	122
156	प्राकृत प्रकाश-सटीक	भामाह	व्याकरण	प्राकृत	जय कृष्णदास गुप्ता	208
157	द्रव्य परिक्षा और धातु उत्पत्ति	ठक्कर फेरू	धातु	संस्कृत /हिन्दी	भंवरलाल नाहटा	70
158	आरम्भसिध्धि – सटीक	पू. उदयप्रभदेवसूरिजी	ज्योतीष	संस्कृत	पू. जितेन्द्रविजयजी	310
159	खंडहरो का वैभव	पू. कान्तीसागरजी	शील्प	हिन्दी	भारतीय ज्ञानपीठ	462
160	बालभारत	पू. अमरचंद्रसूरिजी	काव्य	संस्कृत	पं. शीवदत्त	512
161	गिरनार माहात्म्य	दौलतचंद परषोत्तमदास	तीर्थ	संस्कृत /गुजराती	जैन पत्र	264
162	गिरनार गल्प	पू. ललितविजयजी	तीर्थ	संस्कृत/गुजराती	हंसकविजय फ्री लायब्रेरी	144
163	प्रश्नोत्तर सार्ध शतक	पू. क्षमाकल्याणविजयजी	प्रकरण	हिन्दी	साध्वीजी विचक्षणाश्रीजी	256
164	भारतिय संपादन शास्त्र	मूलराज जैन	साहित्य	हिन्दी	जैन विद्याभवन, लाहोर	75
165	विभक्त्यर्थ निर्णय	गिरिधर झा	न्याय	संस्कृत	चौखम्बा प्रकाशन	488
166	व्योम वती-१	शिवाचार्य	न्याय	संस्कृत	संपूर्णानंद संस्कृत युनिवर्सिटी	226
167	व्योम वती-२	शिवाचार्य	न्याय	संस्कृत	संपूर्णानंद संस्कृत विद्यालय	365
168	जैन न्यायखंड खाद्यम्	उपा. यशोविजयजी	न्याय	संस्कृत /हिन्दी	बद्रीनाथ शुक्ल	190
169	हरितकाव्यादि निघंटू	भाव मिश्र	आयुर्वेद	संस्कृत /हिन्दी	शीव शर्मा	480
170	योग चिंतामणि-सटीक	पू. हर्षकीर्तिसूरिजी	आयुर्वेद	संस्कृत /हिन्दी	लक्ष्मी वेंकटेश प्रेस	352
171	वसंतराज शकुनम्	पू. भानुचन्द्र गणि टीका	ज्योतिष	संस्कृत	खेमराज कृष्णदास	596
172	महाविद्या विडंबना	पू. भुवनसुन्दरसूरि टीका	ज्योतिष	संस्कृत	सेन्ट्रल लायब्रेरी	250
173	ज्योतिर्निबन्ध	शिवराज	ज्योतिष	संस्कृत	आनंद आश्रम	391
174	मेघमाला विचार	पू. विजयप्रभसूरिजी	ज्योतिष	संस्कृत/गुजराती	मेघजी हीरजी	114
175	मुहूर्त चिंतामणि-सटीक	रामकृत प्रमिताक्षय टीका	ज्योतिष	संस्कृत	अनूप मिश्र	238
176	मानसोल्लास सटीक-१	भुलाकमल्ल सोमेश्वर	ज्योतिष	संस्कृत	ओरिएन्ट इन्स्टीट्यूट	166
177	मानसोल्लास सटीक-२	भुलाकमल्ल सोमेश्वर	ज्योतिष	संस्कृत	ओरिएन्ट इन्स्टीट्यूट	368
178	ज्योतिष सार प्राकृत	भगवानदास जैन	ज्योतिष	प्राकृत/हिन्दी	भगवानदास जैन	88
179	मुहूर्त संग्रह	अंबालाल शर्मा	ज्योतिष	गुजराती	शास्त्री जगन्नाथ परशुराम द्विवेदी	356
180	हिन्दु एस्ट्रोलोजी	पिताम्बरदास त्रीभोवनदास	ज्योतिष	गुजराती	पिताम्बरदास टी. महेता	168

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

संयोजक – शाह बाबुलाल सरेमल - (मो.) 9426585904 (ओ.) 22132543. E-mail : ahoshrut.bs@gmail.com
शाह विमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन
हीराजैन सोसायटी, रामनगर, साबरमती, अमदावाद-380005.

अहो श्रुतज्ञानम् ग्रंथ जीर्णोद्धार – संवत २०७१ (ई. 2015) सेट नं.-६

प्रायः अप्राप्य प्राचीन पुस्तकों की डिजिटाइझेशन द्वारा डीवीडी बनाई उसकी सूची।

यह पुस्तके www.ahoshrut.org वेबसाइट से भी डाउनलोड कर सकते हैं।

क्रम	पुस्तक नाम	कर्त्ता / टिकाकार	विषय	भाषा	संपादक / प्रकाशक	पृष्ठ
181	काव्यप्रकाश भाग-१	पूज्य मम्मटाचार्य कृत		संस्कृत	पूज्य जिनविजयजी	364
182	काव्यप्रकाश भाग-२	पूज्य मम्मटाचार्य कृत		संस्कृत	पूज्य जिनविजयजी	222
183	काव्यप्रकाश उल्लास-२ अने ३	उपा. यशोविजयजी		संस्कृत	यशोभारति जैन प्रकाशन समिति	330
184	नृत्यरत्न कोश भाग-१	श्री कुम्भकर्ण नृपति		संस्कृत	श्री रसीकलाल छोटालाल	156
185	नृत्यरत्न कोश भाग-२	श्री कुम्भकर्ण नृपति		संस्कृत	श्री रसीकलाल छोटालाल	248
186	नृत्याध्याय	श्री अशोकमलजी		संस्कृत /हिन्दी	श्री वाचस्पति गैरोभा	504
187	संगीरत्नाकर भाग-१ सटीक	श्री सारंगदेव		संस्कृत/अंग्रेजी	श्री सुब्रमण्यम शास्त्री	448
188	संगीरत्नाकर भाग-२ सटीक	श्री सारंगदेव		संस्कृत/अंग्रेजी	श्री सुब्रमण्यम शास्त्री	444
189	संगीरत्नाकर भाग-३ सटीक	श्री सारंगदेव		संस्कृत/अंग्रेजी	श्री सुब्रमण्यम शास्त्री	616
190	संगीरत्नाकर भाग-४ सटीक	श्री सारंगदेव		संस्कृत/अंग्रेजी	श्री सुब्रमण्यम शास्त्री	632
191	संगीत मकरन्द	नारद		संस्कृत	श्री मंगेश रामकृष्ण तेलंग	84
192	संगीत नृत्य अने नाट्य संबंधी जैन ग्रंथो	श्री हीरालाल कापडीया		गुजराती	मुक्ति-कमल-जैन मोहन ग्रंथमाला	244
193	न्यायबिंदु सटीक	पूज्य धर्मोतराचार्य		संस्कृत	श्री चंद्रशेखर शास्त्री	220
194	शीघ्रबोध भाग-१ थी ५	पूज्य ज्ञानसुन्दरजी		हिन्दी	सुखसागर ज्ञान प्रसारक सभा	422
195	शीघ्रबोध भाग-६ थी १०	पूज्य ज्ञानसुन्दरजी		हिन्दी	सुखसागर ज्ञान प्रसारक सभा	304
196	शीघ्रबोध भाग-११ थी १५	पूज्य ज्ञानसुन्दरजी		हिन्दी	सुखसागर ज्ञान प्रसारक सभा	446
197	शीघ्रबोध भाग-१६ थी २०	पूज्य ज्ञानसुन्दरजी		हिन्दी	सुखसागर ज्ञान प्रसारक सभा	414
198	शीघ्रबोध भाग-२१ थी २५	पूज्य ज्ञानसुन्दरजी		हिन्दी	सुखसागर ज्ञान प्रसारक सभा	409
199	अध्यात्मसार सटीक	पूज्य गंभीरविजयजी		संस्कृत/गुजराती	नरोत्तमदास भानजी	476
200	छन्दोनुशासन	एच. डी. वेलनकर		संस्कृत	सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ	444
201	मग्गानुसारिया	श्री डी. एस शाह		संस्कृत/गुजराती	ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ट्रस्ट	146

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

संयोजक – शाह बाबुलाल सरेमल - (मो.) 9426585904 (ओ.) 22132543. E-mail : ahoshrut.bs@gmail.com
शाह विमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन
हीराजैन सोसायटी, रामनगर, साबरमती, अमदावाद-380005.

अहो श्रुतज्ञानम् ग्रंथ जीर्णोद्धार – संवत २०७२ (ई. 201६) सेट नं.-७

प्रायः अप्राप्य प्राचीन पुस्तकों की डिजिटाइझेशन द्वारा डीवीडी बनाई उसकी सूची।

क्रम	पुस्तक नाम	कर्त्ता / टिकाकार	भाषा	संपादक / प्रकाशक	पृष्ठ
202	आचारांग सूत्र भाग-१ निर्युक्ति+टीका	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	285
203	आचारांग सूत्र भाग-२ निर्युक्ति+टीका	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	280
204	आचारांग सूत्र भाग-३ निर्युक्ति+टीका	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	315
205	आचारांग सूत्र भाग-४ निर्युक्ति+टीका	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	307
206	आचारांग सूत्र भाग-५ निर्युक्ति+टीका	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	361
207	सुयगडांग सूत्र भाग-१ सटीक	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	301
208	सुयगडांग सूत्र भाग-२ सटीक	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	263
209	सुयगडांग सूत्र भाग-३ सटीक	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	395
210	सुयगडांग सूत्र भाग-४ सटीक	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	386
211	सुयगडांग सूत्र भाग-५ सटीक	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	351
212	रायपसेणिय सूत्र	श्री मलयगिरि	गुजराती	श्री बेचरदास दोशी	260
213	प्राचीन तीर्थमाळा भाग-१	आ.श्री धर्मसूरि	सं./गुजराती	श्री यशोविजयजी ग्रंथमाळा	272
214	धातु पारायणम्	श्री हेमचंद्राचार्य	संस्कृत	आ. श्री मुनिचंद्रसूरि	530
215	सिद्धहेम शब्दानुशासन लघुवृत्ति भाग-१	श्री हेमचंद्राचार्य	सं./गुजराती	श्री बेचरदास दोशी	648
216	सिद्धहेम शब्दानुशासन लघुवृत्ति भाग-२	श्री हेमचंद्राचार्य	सं./गुजराती	श्री बेचरदास दोशी	510
217	सिद्धहेम शब्दानुशासन लघुवृत्ति भाग-३	श्री हेमचंद्राचार्य	सं./गुजराती	श्री बेचरदास दोशी	560
218	तार्किक रक्षा सार संग्रह	आ. श्री वरदराज	संस्कृत	राजकीय संस्कृत पुस्तकालय	427
219	वादार्थ संग्रह भाग-१ (स्फोट तत्त्व निरूपण, स्फोट चन्द्रिका, प्रतिपादिक संज्ञावाद, वाक्यवाद, वाक्यदीपिका)	विविध कर्ता	संस्कृत	महादेव शर्मा	88
220	वादार्थ संग्रह भाग-२ (षट्कारक विवेचन, कारक वादार्थ, समासवादार्थ, वकारवादार्थ)	विविध कर्ता	संस्कृत	महादेव शर्मा	78
221	वादार्थ संग्रह भाग-३ (वादसुधाकर, लघुविभक्त्यर्थ निर्णय, शाब्दबोधप्रकाशिका)	विविध कर्ता	संस्कृत	महादेव शर्मा	112
222	वादार्थ संग्रह भाग-४ (आख्यात शक्तिवाद छः टीका)	रघुनाथ शिरोमणि	संस्कृत	महादेव शर्मा	228

भारतीय संपादन-शास्त्र

लेखक—

मूलराज जैन, एम० ए०, एल एल० बी०

प्रिन्सिपल, श्री आत्मानन्द जैन कालिज, अम्बाला शहर

(Reprinted from the November 1942 issue of the Oriental College Magazine, Lahore.)

प्रकाशक—

जैन विद्या भवन

कृष्णनगर, लाहौर

सं० १९९९

Aho ! Shrutgyanam

प्रस्तावना

इस वर्ष के जनवरी मास में जब पंजाब यूनिवर्सिटी ने मुझे " मेयो पटियाला रिसर्च स्कालरशिप " प्रदान किया, तो मुझे संस्कृतविभाग के अध्यक्ष (तथा अब ओरियंटल कालिज के प्रिन्सिपल) डा० लक्ष्मण स्वरूप के निरीक्षण में काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने मुझे 'पृथ्वीराज रासो' की उपलब्ध सामग्री के अवलोकन करने पर नियुक्त किया ताकि इससे रासो के प्राचीन पाठ का निर्माण किया जा सके, प्राचीन ग्रन्थों का संपादन भी अब एक सायंस बन गया है। इस के अपने सिद्धान्त हैं जिन को भली प्रकार समझे बिना सम्पादन में सफलता नहीं मिल सकती। डा० स्वरूप महोदय भारतीय ग्रन्थों के सम्पादन में अपार अनुभव रखते हैं। उन की कृपा से जब मुझे भी इस में कुछ गति होने लगी, तब डाक्टर महोदय ने मुझे आज्ञा की कि रासो की सामग्री के अवलोकन से जो कुछ अनुभव प्राप्त हुआ है उसे हिंदी में लेखबद्ध कर दो ताकि इस से संस्कृत और हिंदी के जानने वालों को भी सम्पादन कार्य में सहायता मिले। इस आज्ञा के फलस्वरूप यह लेख तय्यार किया गया है।

इस के लिखने में निम्नलिखित ग्रन्थों से सहायता ली गई है जिस के लिए मैं उन के लेखकों तथा प्रकाशकों का ऋणी हूं।

1. S. M. Katre : Introduction to Indian Textual Criticism. Bombay. 1941. यह संस्कृत ग्रन्थों के सम्पादन से सम्बन्ध रखने वाली अंगरेज़ी की पहली पुस्तक है।

2. F. W. Hall : Companion to Classical Texts. Oxford, 1913. इस में ग्रीक और लैटिन ग्रन्थों के सम्पादन करने की विधि वर्णन की गई है, साथ ही सम्पादन के सामान्य नियम भी बड़ी विशद रीति से समझाए गए हैं।

3. V. S. Sukthankar : Prolegomena to the critical edition of the Ādiparvan of the Mahābhārata, Poona, 1933. इसे भारतीय सम्पादन-शास्त्र की नींव समझना चाहिए। पाश्चात्य विद्वानों के सम्पादन-शास्त्रीय अनुभव का महाभारत के सम्पादन में प्रयोग किया गया है।

4. F. Edgerton : Pancatantra Reconstructed. 1924.

5. L. Sarup : The Nighaṇtu and the Nirukta. Oxford, 1920

६. गौरीशंकर हीराचंद ओझा—भारतीय प्राचीन लिपिमाला।

अन्त में मैं डा० लक्ष्मण स्वरूप का हार्दिक धन्यवाद करता हूं जिन्होंने मुझे इस शास्त्र में प्रवेश कराया और इसे हिंदी में लेख-बद्ध करने पर उत्साहित किया। यह लेख प्रेस में भेजा ही था कि मैं श्री आत्मानन्द जैन कालिज, अम्बाला शहर का प्रिन्सिपल नियुक्त किया गया। अतः मुझे लाहौर छोड़ कर अम्बाले जाना पड़ा। मेरी अनुपस्थिति में प्रूफ़-संशोधन का कष्ट मेरे पूज्य पिता डा० बनारसीदास को उठाना पड़ा। इस का मुझे बड़ा खेद है।

मूलराज जैन

Aho ! Shrutgyanam

विषय-सूची

अध्याय विषय पृष्ठ

१ भूमिका १–८

सम्पादन शास्त्र की परिभाषा—प्राचीन रचनाएं—हस्तलिखित प्रतियां—भारत में लेखन-कला की प्राचीनता-प्राचीन प्रतियों के अभाव के कारण—साहित्य का लेखन-साहित्य की दो श्रेणियां, समष्टि और व्यक्ति-रचित साहित्य—पुस्तक प्रचार और इस के कारण—पुस्तक रक्षा—

२ सामग्री ८–२२

मूल सामग्री—मूल प्रति—प्रथम प्रति—प्रतिलिपि—प्रतियों की विशेषताएं, सामग्री, पंक्तियां, शब्द विग्रह, विराम-चिह्न, संकेत, पत्र-गणना—लिपिकार प्रतियों का शोधन—सहायक-सामग्री-उद्धरण-सुभाषित-संग्रह—भाषांतर—टीका, टिप्पणी, भाष्य, वृत्ति आदि—सार ग्रंथ—अनुकरण-ग्रंथ—समान पाठ ग्रंथकार के अन्यग्रंथ—

३ प्रतियों का मिलान २२–३३

विश्वसनीयता—लिपिकाल—लिपिकाल-निर्धारण—शुद्ध सम्बन्ध—संकीर्ण सम्बन्ध—पंचतन्त्र की संकीर्ण धाराएं—प्रतियों की संख्या आदि—

४ प्रतियों में दोष और उनके कारण ३३–४४

दोष, बाह्य और आंतरिक—लिपिभ्रम—शब्द-भ्रम—लोप-आगम-अभ्यास-व्यत्यय-समानार्थ शब्दांतरन्यास—हाशिए के शब्दों आदि का मूल पाठ में समावेश—वाक्य के शब्दों के प्रभाव से विचार-विभ्रम—ध्वनि—भाषा की अनियमितता-भाषाव्यत्यय—प्रक्षेप, परिवर्तन, आधिक्य—

५ पुनर्निर्माण ४४–५१

पुनर्निर्माण—इस की विधि—काल्पनिक आदर्शों और मूलादर्श का पुनर्निर्माण—इस के कुछ नियम—विषयानुसंगति-लेखानुसंगति—स्वीकृति—संदेह-त्याग-सुधार

६ पाठ-सुधार ५१–५६

सुधार की आवश्यकता—विधि—प्राचीन और नवीन पद्धतियां—संदिग्ध पाठ—क्लिष्ट-कल्पना और सुधार महाभारत में सुधार-व्यक्ति रचित साहित्य में सुधार—बीच का मार्ग—

परिशिष्ट १—प्रतियों के मिलान की रीति ५७–५८

२—प्राचीन लेखन-सामग्री ५६–६७

३—सूची-साहित्य ६७–७०

भारतीय संपादन-शास्त्र

(लेखक—मूलराज जैन, एम० ए०, एल एल० बी०, मेयो-पटियाला रिसर्च स्कालर, पंजाब युनिवर्सिटी)

पहिला अध्याय

भूमिका

संपादन-शास्त्र वह शास्त्र है जिसके द्वारा किसी प्राचीन रचना की उपलब्ध हस्तलिखित प्रतिलिपियों आदि के आधार पर हम उस रचना को इस प्रकार संशोधन कर सकें कि जहां तक संभव हो स्वयं रचयिता की मौलिक रचना या उसकी प्राचीन से प्राचीन अवस्था का ज्ञान हो सके। इसमें प्रतियों का परस्पर संबंध क्या है, उनका मूलस्रोत कौनसा है, उन में क्रमशः कौन कौनसे परिवर्तन हुए और क्यों हुए, उन से प्राचीनतम पाठ कैसे निश्चित किया जाए, उन की अशुद्धियों का सुधार कैसे करना चाहिए, आदि बातों पर विवेचन किया जाता है। संक्षेपतः इस शास्त्र की सहायता से किसी रचना की उपलब्ध प्रतियों आदि के मिलान से जहां तक हो सके उस के मौलिक अथवा प्राचीनतम रूप का निश्चय किया जा सकता है। मौलिक रूप से हमारा तात्पर्य किसी रचना के उस रूप से है जो उसके रचयिता को अभीष्ट था।

इस शास्त्र का संबंध प्रायः प्राचीन रचनाओं से है। 'रचना' की और भी अनेक संज्ञाएं हैं जैसे पुस्त, पुस्तक, पोथी, सूत्र, ग्रंथ, कृति आदि। 'पुस्त' और 'पुस्तक'[1] संस्कृत धातु 'पुस्त' (बांधना) से निकले हैं। चूंकि प्राचीन काल में जिन पत्रादि पर रचना लिखी जाती थी उन को धागे से बांधते थे, इसलिए रचना को 'पुस्त' या 'पुस्तक' कहते थे। 'पुस्तक' शब्द से ही प्राकृत तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का 'पोथी' शब्द निकला है। 'सूत्र' उस सूत्र या डोरी की स्मृति दिलाता है जिस से पत्रादि बांधे जाते थे। 'ग्रंथ' 'ग्रथ्' (बांधना, गांठ देना) धातु से निकला है और पत्रादि को बांधने के लिए सूत्र में दी हुई गांठ का सूचक है। यह रचनाएं प्रायः वनस्पति से प्राप्त सामग्री (ताडपत्र, भोजपत्र, कागज़, लकड़ी, वस्त्रादि[2]) पर लिखी जाती थीं अतः इन के विभागों को स्कंध, कांड, शाखा, वल्ली आदि नाम

---

१. संभव है कि 'पुस्त', 'पुस्तक' शब्द फ़ारसी से लिए गए हों क्योंकि उस भाषा में 'पुश्त', 'पोस्त' (= सं० पृष्ठ) का अर्थ 'पीठ, चर्म होता है, और फ़ारस के लोग चर्म पर लिखते थे।

२. लेख धातु, चर्म, पाषाण, ईंट, मिट्टी की मुद्रा आदि पर भी मिलते हैं।

Aho ! Shrutgyanam

दिए गए। यह नाम वनस्पति से संबंध रखते हैं। पत्र और पन्ना (=सं० पर्ण) भी वृक्षों के पत्तों के ही स्मारक हैं।

आज यह रचनाएं हमें हस्तलिखित प्रतिलिपियों के रूप में प्राप्त होती हैं। हमें खेद से कहना पड़ता है कि भारत में अति प्राचीन प्रतियों का प्रायः अभाव है। सिंधु-सभ्यता के ज्ञान से पहले अजमेर ज़िले के 'वड़ली' ग्राम से प्राप्त जैन शिलालेख, 'पिप्रावा' से उपलब्ध बौद्ध लेख[१], और अनेक स्थानों पर विद्यमान, महाराज अशोक की शिलोत्कीर्ण धर्मलिपियां ही प्राचीनतम लेख माने जाते थे। और कोई भी पुस्तक विक्रम से पूर्व लिपिकृत प्राप्त नहीं हुई। प्राचीन लेखों के अभाव का कारण ब्यूलर आदि कई पाश्चात्य विद्वानों के कथनानुसार यह था कि उस काल में भारतीय लेखन-कला से अनभिज्ञ थे। उन का मत है कि भारत की पुरानी लिपियां—ब्राह्मी और खरोष्ठी—प्राचीन पाश्चात्य लिपियों से निकली हैं। परंतु हड़प्पा, मोहिंजोदड़ो आदि स्थानों पर खुदाई होने से निश्चित रूप से ज्ञात हो गया है कि भारतीय उस सभ्यता के समय लिपि का आविष्कार कर चुके थे और उन में लिखने का प्रचार काफ़ी था। यह लिपि चित्रात्मक है और प्राचीन काल की पाश्चात्य लिपियों से बहुत मिलती है। संभव है कि इस सभ्यता का मिश्र आदि देशों की तात्कालिक सभ्यता से घनिष्ठ संबंध और संपर्क हो। अतः यह निश्चित है कि जिस समय पाश्चात्य लोग लिपि का प्रयोग करते थे (यदि उस से पूर्व काल में नहीं तो) उस समय भारत में लिपि का प्रयोग अवश्य होता था।

मोहिंजोदड़ो और हड़प्पा से अभी तक कोई लम्बा लेख नहीं मिला परंतु कुछ लेखान्वित मुद्राएं और मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए हैं। खुदाई में थोड़े ताम्रपत्र और मिट्टी के कड़े भी हाथ लगे हैं, जिन पर अक्षर उत्कीर्ण किए हुए हैं। इन लेखों की लिपि को पढ़ने में अभी पूरी सफलता नहीं हुई। अब तक यहां से कुल ३९६ चित्र-चिह्न मिले हैं। कुछ चिह्न समस्त रूप में हैं और कई चिह्नों का रूप मात्राओं के लगने से परिवर्तित हो गया है। १२ मात्राओं तक के समूह भी दृष्टिगोचर होते हैं। संभवतः यह उच्चारण-शास्त्र के अनुसार हैं। यह चिह्न दाएं से बाएं हाथ को लिखे जाते थे। इन चिह्नों की इतनी बड़ी संख्या से यह सूचित होता है कि वह लिपि वर्णात्मक न थी, अपितु अक्षरात्मक या भावात्मक थी[२]। कम लेखों के मिलने से यह अनुमान हो सकता है कि उस समय की लेखन-सामग्री चिरस्थायी न थी।

---

१. ओझा—भारतीय प्राचीन लिपिमाला (दूसरा सं०), पृ० २-३।

२. राधाकुमुद मुकरजी—हिंदू सिविलाइज़ेशन, पृ० १८-१९।

Aho ! Shrutgyanam

संभवत: वह लोग वृक्षों के पत्र, छाल या लकड़ी, वस्त्र, चर्म आदि पर लिखते होंगे। अत: समय के साथ साथ लेख भी नष्ट होते गए[1]।

प्राचीन भारतीय साहित्य में कई ऐसे स्थल हैं जिन में लेखन-कला का स्पष्ट उल्लेख है, और बहुत से ऐसे हैं जिनके आधार पर तत्तत्काल में इस कला के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है[2]। पाश्चात्य लेखक भी लिखते हैं कि खीष्ट से ४०० वर्ष पूर्व भारतीयों को लेखन-कला का ज्ञान था और वह अपनी दिनचर्या में इसका प्रयोग करते थे। चंद्रगुप्त मौर्य के समकालीन यवन लेखक निअर्कस ने तो यहां तक लिखा है कि हिंदुस्तान के लोग रूई को कूटकर लिखने के लिए काग़ज़ बनाते हैं[3]। इसलिए हम निश्चय से कह सकते हैं कि पाश्चात्य देशों के समान भारत में भी लेखन-कला का ज्ञान और प्रयोग बहुत प्राचीन है।

फिर भी भारत में बहुत पुरानी हस्तलिखित पुस्तकों का अभाव है। इस के कारण निम्नलिखित हैं।

(१) स्मरण-शक्ति का प्रयोग और लिखित पुस्तकों का अनादर— हमारे पूर्वज पठन-पाठन में स्मरण-शक्ति का प्रयोग बहुत करते थे। यज्ञ में वेदमंत्रों का शुद्ध प्रयोग आवश्यक था। इन में स्वर और वर्ण की अशुद्धि यजमान का नाश कर सकती थी। अत: इन का शुद्ध उच्चारण गुरु-मुख से ही सीखा जाता था। इसलिए वैदिक लोग न केवल मंत्रों को, वरन् उन के पदपाठ को, दो दो पद मिलाकर क्रम पाठ को और इसी तरह पदों के उलट-फेर से घन, जटा आदि पाठों को भी स्वरसहित कंठस्थ करते थे। गुरु अपने शिष्यों को मंत्र का एक एक अंश सुनाता और वह उन्हें ज्यों का त्यों रट लेते थे। स्वर आदि की मर्यादा नष्ट न होने पाए, इसलिए लिखित पुस्तकों से वेद-पाठ का निषेध किया गया[4]। परंतु वेद लिपिकृत अवश्य किए जाते थे[5]। वेद के पठन-पाठन में लिखित पुस्तक का अनादर एक

---

१. मार्शल—महिंजोदड़ो, पृ० ३५।

२. लिपिमाला, पृ० ४-१५।

३. लिपिमाला, पृ० १४४।

४. यथैवान्यायविज्ञाताद्वेदाल्लेख्यादिपूर्वकम्।
शूद्रेणाधिगताद्वापि धर्मज्ञानं न संमतम्॥ (कुमारिल का तंत्रवार्त्तिक, जैमिनि-मीमांसा-दर्शन के अ० १, पाद ३, अधिकरण ३, सूत्र ७ पर, पृ० २०३)

५. वेदविक्रयिणश्चैव वेदानां चैव दूषका:।
वेदानां लेखकाश्चैव ते वै निरयगामिन:॥
(महाभारत, अनुशासन पर्व, ६३। २८)

Aho ! Shrutgyanam

प्राचीन रीति हो गई और उसी की देखा-देखी और शास्त्र भी जहां तक हो सके कंठस्थ किए जाने लगे। यहां तक कि आज भी वेद लोगों को कंठस्थ हैं। और भारतीय लोग कंठस्था विद्या को ही विद्या मानने लगे। गीता में आत्मा के विषय में लिखा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ (२, २३)

यह उक्ति इस कंठस्था विद्या के लिए पूरी तरह लागू होती है। हिंदुओं की परिपाटी शताब्दियों तक यही रही है कि मस्तिष्क और स्मृति ही पुस्तकालय का काम दें। वह कहते हैं कि पुस्तकों से विद्या लेने वाला पुरुष कभी विद्वत्सभा में चमक नहीं सकता[1]। इसी लिए सूत्र ग्रंथों की संक्षेप शैली से रचना हुई। इसी लिए ज्योतिष, वैद्यक, अंकगणित, बीजगणित आदि वैज्ञानिक विषयों के ग्रंथ भी बहुधा श्लोकबद्ध लिखे जाने लगे। और तो और कोश जैसे ग्रंथ भी छंदोबद्ध लिखे गए ताकि शीघ्र कंठस्थ हो सकें।

२—लेखन-सामग्री की नश्वरता—प्राचीन काल में जिस सामग्री पर पुस्तकें लिखते थे, वह सब चिरस्थायी न होगी, और समय के व्यतीत होने के साथ साथ लिपिबद्ध पुस्तकें भी नष्ट भ्रष्ट होती गईं।

३—भारत में यह परिपाटी है कि लिखित पुस्तकें जब काम की न रहें तब वह गंगा आदि पवित्र नदियों की भेंट कर दी जाती हैं[2]।

४—राज-विप्लव आदि के कारण भी बहुत सी लिखित पुस्तकों का नाश हुआ है।

साहित्यक्षेत्र में लेखन ने स्मरण-शक्ति का स्थान शनैः शनैः लिया होगा। परंतु कब लिया—इस बात का निर्णय कठिन है। जैन और बौद्ध साहित्य में निश्चयपूर्वक बतलाया गया है कि किस किस समय उनका धार्मिक साहित्य लिपिबद्ध किया गया। जैनों ने जब देखा कि हमारा आगमिक साहित्य नष्ट भ्रष्ट होता जा रहा है तो उन्होंने समय समय पर कई विद्वत्परिषदें पाटलिपुत्र (विक्रम से पूर्व चौथी शताब्दी में) मथुरा, वलभी आदि स्थानों में कीं। वलभी की परिषद् विक्रम की छठी शताब्दी में हुई और इस में सब आगमों को लिपिबद्ध किया गया। बौद्ध साहित्य की संभाल के लिए भी कई सभाएं हुईं—अशोक के समय

---

१. पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसंनिधौ।
भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियाः॥
की माधवीय टीका (पराशर धर्म संहिता (१, ३८) भाग १, पृ० १५४) में उद्धृत नारद का वचन।

२. काशी स्मारक ग्रंथ (अंग्रेज़ी) पृ० ७५।

Aho ! Shrutgyanam

में पाटलिपुत्र में, कनिष्क के समय में काश्मीर में कुंडलवन में। काश्मीर वाली सभा के वर्णन में यह आता है कि सकल सिद्धांत को ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण करके एक स्तूप में रख दिया ताकि नष्ट न होने पाए। परंतु हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि यह सिद्धांत लिपिबद्ध थे या स्मृति द्वारा ही उन तक पहुंचे थे। ब्राह्मण साहित्य में कोई ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि ब्राह्मणों ने अपने धार्मिक साहित्य को लिपिबद्ध करना कब आरंभ किया।

एक या अनेक कर्ता की अपेक्षा से भारतीय साहित्य दो श्रेणियों में विभक्त हो सकता है।

१—समष्टि-रचित साहित्य—भारत का कुछ प्राचीन साहित्य ऐसा है जिसके सर्जन में किसी व्यक्ति विशेष का हाथ न होकर किसी संप्रदाय का हाथ होता था। सारा ऋग्वेद किसी एक ऋषि को दिखलाई नहीं दिया (या किसी एक कवि की कृति नहीं), किंतु कई ऋषियों को दिखाई दिया। वेद में जितने मंत्र किसी एक ऋषि के नाम के साथ आते हैं वह सब उसी एक ऋषि द्वारा नहीं अपितु उस ऋषि तथा उसकी शिष्य परम्परा द्वारा देखे या बनाए होते हैं। वेदादि धार्मिक साहित्य में शुद्धता वांछित थी इसलिए इस की रक्षा के लिए पद, क्रम, घन, जटा आदि पाठों को प्रयोग में लाया गया। इस के परिणाम-स्वरूप स्मृतिपट से लिपिपट पर आते समय वैदिक साहित्य में अशुद्धियां कम हुईं और पाठ शुद्ध रूप से चला आया है। परंतु जिन रचनाओं के साथ धार्मिकता एवं पवित्रता का इतना घनिष्ठ संबंध नहीं, उन में शुद्धता पूर्ण रूप से नहीं मिलती, जैसे महाभारत, पुराण आदि। भिन्न भिन्न विद्या-केंद्रों पर इन की स्थानीय धाराएं बन गईं। प्रायः देखा जाता है कि ऐसा साहित्य पहले स्मरण-शक्ति द्वारा ही प्रचलित होता था और कुछ काल पीछे लिपिबद्ध किया जाता था। इस अंतर में इस में कुछ न कुछ परिवर्तन आ जाता था क्योंकि कई वाचकों और पंडितों ने अपनी बुद्धि का प्रभाव इस पर डाला होगा। इस साहित्य के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक प्रति में मूलपाठ मिलता है या मिलता था। हम केवल इतना कह सकते हैं कि वह रचना अमुक प्रति में प्रथम बार लिपिबद्ध की गई।

२—व्यक्ति-रचित साहित्य—इस साहित्य के विषय में यह संभावना प्रबल होती है कि रचयिता ने अपनी कृति को या तो स्वयं लिपिबद्ध किया हो या अपने निरीक्षण में किसी से लिखवा कर स्वयं शुद्ध कर लिया हो। ग्रंथकार की स्वयं लिखी हुई या लिखाई हुई इस प्रति को मूल प्रति कहते हैं। इस साहित्य में मूल रचना

Aho ! Shrutgyanam

और मूल प्रति के लिपिकाल में इतना अंतर नहीं पड़ता और न ही स्थानीय धाराओं की इतनी संभावना होती है जितनी समष्टि-रचित साहित्य में।

इस प्रकार रचनाओं के दो भेद हो गए— एक तो वह रचनाएं जिन की मूल प्रतियां थीं, चाहे वह अब उपलब्ध हों या न हों। दूसरी वह रचनाएं जिन की मूल प्रतियां थीं ही नहीं। यह प्रायः स्मरण-शक्ति द्वारा प्रचलित होती रहीं, और समय पाकर लिपिबद्ध हो गईं।

मध्यकालीन भारत में लिखित पुस्तकों का बहुत प्रचार था यहां तक कि चीनी यात्री ह्यूनसांग यहां से चीन लौटते समय बीस घोड़ों पर पुस्तकें लाद कर अपने साथ ले गया जिन में ६५७ भिन्न भिन्न पुस्तकें थीं[1]। मध्य भारत का श्रमण पुण्योपाय वि० सं० ७१२ में १५०० से अधिक पुस्तकें लेकर चीन को गया था[2]। पुस्तकें इतनी बड़ी संख्या में मिलती थीं, इस के भी कारण थे। अपनी रचना को वर्षा अग्नि आदि के कारण नष्ट होने से बचाने के लिए और उसे अन्य इच्छुक विद्वानों तक पहुंचाने के लिए रचयिता स्वयं अपनी मूल प्रति के आधार पर अनेक प्रतिलिपियां करता या दूसरों से करवाता था। राजशेखर ने काव्यमीमांसा[3] में लिखा है कि कवि अपनी कृति की कई प्रतियां करे या कराए जिस से वह कृति सुरक्षित रह सके और नष्ट भ्रष्ट न होने पाए।

यदि वह रचना शीघ्र प्रसिद्ध हो जाती तो उस की मांग होने लगती और विद्याप्रेमी राजा और विद्वान अपनी अपनी प्रतियां बनाते या बनवाते थे।

---

१. वी० ए० स्मिथ—अरली हिस्टरी आफ़ इंडिया (चौथा संस्करण), पृ० ३६५।

२. लिपिमाला, पृ० १६।

३. (गायक्वाड़ सिरीज़, प्रथम सं०) पृ० ५३—

सिद्धं च प्रबन्धमनेकादर्शगतं कुर्यात्। यदित्थं कथयन्ति—

"निक्षेपो विक्रयो दानं देशत्यागोऽल्पजीविता।
त्रुटिको वह्निरम्भश्च प्रबन्धोच्छेदहेतवः॥
दारिद्र्यं व्यसनासक्तिरवज्ञा मन्दभाग्यता।
दुष्टे द्विष्टे च विश्वासः पञ्च काव्यमहापदः॥"

पुनः समापयिष्यामि, पुनः संस्करिष्यामि, सुहृद्भिः सह विवेचयिष्यामीति कर्तुराकुलता राष्ट्रोपप्लवश्च प्रबन्धविनाशकारणानि।

Aho ! Shrutgyanam

मध्यकाल में लोग पुस्तक-दान का काफ़ी माहात्म्य मानते थे[1]। दान देने के लिए भी पुस्तकें लिपिबद्ध होती थीं। प्राचीन यात्रियों का इतनी बड़ी संख्या में प्रतियों को विदेश ले जाना भी यही सिद्ध करता है कि उस समय दान में पुस्तकें बहुत दी जाती थीं, क्योंकि बौद्ध भिक्षु कोई योरुप या अमेरिका के धनाढ्य टूरिस्ट तो थे नहीं कि वहाँ तोड़े खोलकर पुस्तकें मोल ले लेते। उन्हें जितनी पुस्तकें मिलीं वह गृहस्थों, भिक्षुओं, मठों या राजाओं से दान में मिली होंगी[2]।

यह पुस्तकें प्रायः राजदरबार, मंदिर, पाठशाला, विहार, मठ, उपाश्रय आदि से संबद्ध पुस्तकालयों में या व्यक्तिगत रूप से निर्मित पुस्तक-संग्रहों में रखी जाती थीं। संस्कृत भाषा में इन पुस्तकालयों को 'भारती भांडागार' या 'सरस्वती भांडागार' कहते हैं। इसी 'भांडागार' शब्द से आधुनिक 'भंडार' शब्द की उत्पत्ति हुई है। बाण[3] स्वयं लिखता है कि उस के पास एक पुस्तक-वाचक था, जिस का कर्तव्य उसे पुस्तकें पढ़ कर सुनाना था। इस से अनुमान किया जा सकता है कि बाण

---

१. विप्राय पुस्तकं दत्त्वा धर्मशास्त्रस्य च द्विज ।
पुराणस्य च यो दद्यात् स देवत्वमवाप्नुयात् ॥
शास्त्रदृष्ट्या जगत् सर्वं सुश्रुतञ्च शुभाशुभम् ।
तस्मात् शास्त्रं प्रयत्नेन दद्याद् विप्राय कार्त्तिके ॥
वेदविद्यां च यो दद्यान् स्वर्गे कल्पत्रयं वसेत् ।
आत्मविद्याञ्च यो दद्यात् तस्य संख्या न विद्यते ॥
त्रीणि तुल्यप्रदानानि त्रीणि तुल्यफलानि च ।
शास्त्रं कामदुघा धेनुः पृथिवी चैव शाश्वती ॥

पद्म पुराण, उत्तर खंड, अध्याय ११७ (?)

वेदार्थयज्ञशास्त्राणि धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
मूल्येन लेखयित्वा यो दद्याद् याति स वैदिकम् ॥
इतिहास-पुराणानि लिखित्वा यः प्रयच्छति ।
ब्रह्मदानसमं पुण्यं प्राप्नोति द्विगुणीकृतम् ॥

गरुड पुराण, अध्याय २१५ (?)

(शब्दकल्पद्रुम में 'पुस्तक' शब्द के विवरण से उद्धृत)

२. लिपिमाला पृ० १६।

३. हर्षचरित, तृतीय उच्छ्वास, जीवानंद का दूसरा संस्करण पृ० २००-२०२ अथवा कॉवल का अनुवाद पृ० ७२-७३।

Aho ! Shrutgyanam

के पास एक अच्छा खासा पुस्तक भंडार होगा। विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में धारा के राजा भोज के महल में भारी पुस्तक-संग्रह था। वि० सं० १२०० के लगभग सिद्धराज जयसिंह इसे अपने पुस्तकालय में मिलाने के लिए अणहिलवाड़ पाटण में ले आया था। इसी प्रकार राज-भंडारों में बहुत सी पुस्तकें संगृहीत हो जाती थीं। खम्भात के दो जैन भंडारों में ३०००० से भी अधिक पुस्तकें हैं। तंजोर की राजलाइब्रेरी में १२००० से ऊपर पुस्तकें हैं[1]। इसी प्रकार पाटण के जैन भंडारों में १२००० से अधिक कागज़ की हस्तलिखित पुस्तकें हैं और ६५८ ताडपत्रीय पुस्तकें हैं[2]। चौलुक्य वीसलदेव (वि० सं० १२९९-१३१९) के पुस्तकालय में 'नैषध' की वह प्रति थी जिस के आधार पर विद्याधर ने इस काव्य पर पहली टीका लिखी। इसी पुस्तकालय में सुरक्षित 'कामसूत्र' की एक प्रति के आधार पर यशोधर ने 'जयमंगला' टीका रची। बॉन (जर्मनी) के विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में रामायण की एक प्रति है जो वीसलदेव के संग्रह के आदर्श की प्रतिलिपि है। इस से हम कह सकते हैं कि भारत में सातवीं शताब्दी में पुस्तकालयों का अस्तित्व था और भारत के बाहर से तो इस काल से भी बहुत पहले की पुस्तकें प्राप्त हुई हैं।

दूसरा अध्याय

सामग्री

किसी प्राचीन ग्रंथ के संपादन करने के लिए संपादक को चाहिए कि वह उस ग्रंथ की सब सामग्री की पूरी पूरी खोज करे। यह सामग्री दो प्रकार की है—मूल और सहायक।

मूल सामग्री

मूल सामग्री वह है जिस के आधार पर किसी रचना का संपादन किया जाता है। यह प्रायः हस्तलिखित प्रतियों के रूप में होती है। हस्तलिखित प्रतियों से हमारा तात्पर्य किसी ग्रंथ की उन प्रतियों से है जो उस ग्रंथ की छपाई से पहले हाथ द्वारा

---

१. कात्रे—इंडियन टैक्सचुअल क्रिटिसिज़्म, पृ० १३।

२. डिस्क्रिप्टिव कैटॅलॉग ऑफ़ मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि जैन भंडारज़ एट पाटण, भूमिका, पृ० ४१।

३. कात्रे, पृ० १३।

Aho ! Shrutgyanam

लिखी गई हों। इन प्रतियों का परिचय प्राप्त करने के लिए सूचियों का प्रयोग करना पड़ता है। सूची-साहित्य बृहत्काय हो गया है। कई विवरणात्मक सूचियां छप चुकी हैं और अब भी छप रही हैं। सब से प्राचीन सूची काशी के पंडित कवींद्राचार्य (वि० सं० १७१३) की है।

परंपरा की अपेक्षा प्रतिएं कई प्रकार की हैं—

मूलप्रति—जैसा कि पहले बतलाया गया है मूलप्रति उस प्रति को कहते हैं जिस को ग्रंथकार ने स्वयं लिपिबद्ध किया हो या अपने निरीक्षण में किसी से लिपिबद्ध करवा कर स्वयं शुद्ध कर लिया हो। प्राचीन मूलप्रतियों में पाठ की अशुद्धियां हो जाती होंगी क्योंकि हम देखते हैं कि आधुनिक लेखों की मूलप्रतियों में भी छोटी मोटी अशुद्धियां हो जाती हैं। प्राचीन अथवा अर्वाचीन मूल प्रतियों का संपादक इन्हीं को शोधता है।

प्रथम प्रति—प्रथम प्रति वह प्रति होती है जो किसी कृति की मूलप्रति से तय्यार की जाए, जैसे शिलालेख, ताम्रपत्र आदि। यदि किसी मूल प्रति से कई प्रतियां की जावें तो वह सभी प्रथम प्रतियां ही कहलावेंगी। पुस्तकों की भी प्रथम प्रतियां मिलती हैं। उत्कीर्ण लेखों और पाषाण आदि पर खुदे हुए काव्य आदि की रक्षा का यदि उचित प्रबंध न हो तो वह टूट फूट जाते हैं। ऋतुओं के विरोधी आघातों को सहते सहते वह घिस कर मद्धम पड़ जाते हैं। और उन को खोदते समय करणक भी थोड़ी बहुत अशुद्धियां कर ही जाता है। इन त्रुटित अंशों को पूरा करना और अशुद्धियों को सुधारना संपादक का कार्यक्षेत्र है।

प्रतिलिपि—भारत में मूल और प्रथम प्रतिएं बहुत ही कम संख्या में उपलब्ध होती हैं। संपादकों को प्राय: मूल अथवा प्रथम प्रति की प्रतिलिपियां या इन प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियां ही मिलती हैं जिन के आधार पर इन्हें रचना का मौलिक या प्राचीनतम रूप प्राप्त करना पड़ता है।

प्रतियां आधुनिक काल की तरह मुद्रण-यंत्रों से नहीं बनती थीं। इन को मनुष्य अपने हाथों से तय्यार करते थे। जिस प्रति को देख कर कोई प्रतिलिपि की जाती है, उसे उस प्रतिलिपि का 'आदर्श' कहते हैं। प्रतिलिपि कभी भी अपने आदर्श के बिलकुल समान नहीं हो सकती, इस में अवश्य कुछ न कुछ अंतर पड़ जाता था। इस में थोड़ी बहुत अशुद्धियां आ ही जाती थीं। इसलिए प्रतिलिपि अपने आदर्श से सदा कम विश्वसनीय होती है। एक प्रति से अनेक प्रतियां और इन से फिर और प्रतियां तय्यार होती रहती थीं। इस प्रकार ज्यों ज्यों प्रतिलिपि मूल या प्रथम प्रति से दूर

Aho ! Shrutgyanam

हटती जाती है, त्यों त्यों उस में अशुद्धियों की संख्या भी बढ़ती जाती है। उदाहरणार्थ कल्पना कीजिए कि किसी कृति की प्रति 'क' पूर्ण रूप से शुद्ध है अर्थात् शत प्रतिशत शुद्ध है। इस प्रति 'क' से एक प्रतिलिपि 'ख' तय्यार की गई और इस प्रतिलिपि 'ख' से एक और प्रतिलिपि 'ग' बनाई गई। प्रत्येक लिपिकार कुछ न कुछ अशुद्धियां अवश्य करता है—मान लीजिये कि प्रथम लिपिकार ने ५ प्रतिशत अशुद्धियां कीं और दूसरे ने भी इतनी ही। तो 'ख' और 'ग' की शुद्धता ६५ और ६०'२५ प्रतिशत रह जावेगी। इसी प्रकार यदि 'ग' से 'घ' प्रतिलिपि की जाए तो इस 'घ' की शुद्धता केवल ८५'७४ प्रतिशत रह जावेगी। इसलिए किसी प्रति की पूर्वपूर्वता काफ़ी हद तक उस की शुद्धता का द्योतक होती है।

प्रतियों की विशेषताएं

प्रतियों की सामग्री—प्राचीन प्रतियां प्रायः ताड़पत्र, भोजपत्र, काग़ज़, और कभी कभी वस्त्र, लकड़ी, धातु, चमड़ा, पाषाण, ईंट, आदि पर भी मिलती हैं।

पंक्तियां—प्राचीन शिलालेखों का खरड़ा बनाने वाले पंक्तियों को सीधा पर रखने का प्रयत्न करते थे। अशोक की धर्मलिपियों में यह प्रयत्न पूर्णतया सफल नहीं हुआ, परंतु उसी काल के अन्य लेखों में सफल रहा है। केवल उन्मात्राएं (ि, ी, े, ै, ॅ, ॆ) ही रेखा से ऊपर उठती हैं। प्राचीन से प्राचीन पुस्तकों में पंक्तियां प्रायः सीधी होती हैं। प्राचीन ताड़पत्र और काग़ज़ की पुस्तकों में पृष्ठ के दाईं और बाईं ओर खड़ी रेखाएं होती हैं जो हाशिए का काम देती हैं।

एक चौड़ी पाटी पर निश्चित अंतरों पर सूत का डोरा कस देते थे, इस पर पत्रादि रख कर दबा दिए जाते थे जिस से उन पर सीधी रेखाओं के निशान पड़ जाते थे। इन पर लिखा जाता था।

शब्द-विग्रह—पंक्ति, श्लोक या पाद के अंत तक शब्द साधारणतया एक दूसरे के साथ जोड़ कर लिखे होते हैं। परंतु कुछ प्राचीन लेखों में शब्द जुदा जुदा हैं। कई प्रतियों में समस्त पद के शब्दों को जुदा करने के लिए छोटी सी खड़ी रेखा शब्द के अंत में शीर्ष-रेखा के ऊपर लगा दी जाती थी।

विराम-चिह्न—खरोष्ठी शिलालेखों में विराम-चिह्न नहीं मिलते, परंतु धम्मपद में प्रत्येक पद्य के अंत में बिंदु से मिलता जुलता चिह्न पाया जाता है और वर्गों के अंत में वैसा ही चिह्न मिलता है जैसा कई शिलालेखों के अंत में होता है जो शायद कमल का सूचक है। ब्राह्मी लिपि के लेखों में कई प्रकार के विराम-चिह्न हैं।

Aho ! Shrutgyanam

विक्रम संवत् से पहले शिलालेखों में यह चिह्न बहुत कम दिखाई देते हैं—उनमें कहीं कहीं सीधे और टेढ़े दंड होते हैं। विक्रम की पांचवीं शताब्दी से यह चिह्न नियमित रूप से आते हैं—पाद के अंत पर एक दंड और श्लोक के अंत पर दो दंड। दक्षिण में आठवीं शताब्दी तक के कई लेख और शासन इन के बिना मिलते हैं।

संकेत—जिस शब्द को दुहराना होता है, उसको लिखकर '२' का अंक लगा दिया जाता है। हाशिए में ग्रंथ का नाम संक्षिप्त रूप से दिया होता है। कहीं कहीं अध्याय आदि का नाम भी संक्षेप से मिलता है। जैन तथा बौद्ध सूत्रों में एक स्थान पर नगर, उद्यान आदि का वर्णन कर दिया होता है। फिर जहां इन का वर्णन देना हो वहां इसे न देकर केवल 'वण्णओ' (वर्णनम्) शब्द लिख दिया जाता है। इस से पाठक को वहां पर उचित पाठ समझ लेना पड़ता है।

पत्र-गणना—प्रतियों में पत्रों की संख्या दी होती है, पृष्ठों की नहीं। दक्षिण में पत्रे के प्रथम पृष्ठ पर और अन्यत्र दूसरे पर संख्या दी होती है। यह पत्रे के हाशिए में होती है—बाईं ओर वाले में ऊपर और दाईं ओर वाले में नीचे। कई प्रतियों में संख्या केवल एक ही स्थान पर होती है।

कुछ प्राचीन प्रतियों में पत्र-संख्या अंकों में नहीं दी होती। अपितु अक्षरों द्वारा संकेतित होती है। पत्र-गणना में अंकों को अक्षरों द्वारा संकेतित करने की कई रीतियां हैं[1]। उदाहरण—ऋगर्थदीपिका, भाग १, भूमिका पृष्ठ ३९ से उद्धृत।

१	के लिए	न	९	के लिए	द्रे
२	,,	न्न	१०	,,	म
३	,,	न्य	११	,,	मन
४	,,	ष्क	१२	,,	मन्न
५	,,	झ	१३	,,	मन्य
६	,,	ह्रा	१४	,,	मष्क
७	,,	ग्र	१५	,,	मझ
८	,,	प्र	१६	,,	मह्रा

१. डा० लक्ष्मण स्वरूप संपादित ऋगर्थदीपिका, भाग १, भूमिका पृष्ठ ३८-३९; डिस्क्रिप्टिव कैटॉलॉग ऑफ़ दि गवर्मेंट कोलेक्शनज़ ऑफ़ मैनुस्क्रिप्ट्स डिपोज़िटेड एट दि भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, भाग १७,२, परिशिष्ट ३।

Aho ! Shrutgyanam

१७	के लिए	मम	६०	के लिए	त्र
१८	,,	मम्र	७०	,,	त्रु
१९	,,	मम्रे	८०	,,	छ
२०	,,	थ	९०	,,	ग्रा
३०	,,	ल	१००	,,	व्य
४०	,,	प्र	२००	,,	व्यव्य
५०	,,	व			

लिपिकार—

प्रतिलिपियां करने वाले विशेष व्यक्ति हुआ करते थे। पुस्तकें लिखना ही इनकी आजीविका थी। विक्रम के पूर्व चौथी शताब्दी में इनको 'लिपिकर', 'लिपिकार' या, 'लिबिकर' कहते थे। विक्रम की सातवीं और आठवीं शताब्दियों में इन को 'दिविरपति' (फ़ारसी 'दबीर') कहते थे। ग्यारहवीं शताब्दी से लिपिकारों को 'कायस्थ' भी कहने लगे जो आज भारत में एक जाति विशेष का नाम है। शिला-लेखों और ताम्र-पत्रों को उत्कीर्ण करने वालों को करण(क), करणिन्, शासनिक, धर्म-लेखिन कहते थे। जैन भिक्षुओं और यतियों ने जैन तथा जैनेतर साहित्य को लिपिबद्ध करने में बहुत परिश्रम किया। भारतीय लौकिक साहित्य का बृहत् भाग जैन लिपिकारों द्वारा लिपिकृत मिलता है। इस लिए भारतीय साहित्य के सर्जन, रक्षण और प्रचार में जैनों का स्थान बहुत ऊंचा है। विद्यार्थी अपनी अपनी प्रतियां भी बनाया करते थे, जिनका आदर्श प्रायः गुरु की प्रति होती थी।

लिपिकार प्रायः दो प्रकार के होते थे, एक तो वह जो स्वयं रचयिता की, या उसके किसी विद्वान प्रतिनिधि की, या किसी विद्या-प्रेमी राजा आदि द्वारा नियुक्त विद्वानों की देख रेख में काम करते थे। इन लिपिकारों द्वारा की हुई प्रतियों में पाठ की पर्याप्त शुद्धि होती है। रचयिता की अपेक्षा अन्य विद्वानों के निरीक्षण में की गई प्रतियों में दोष होने की संभावना अधिक होती है। दूसरे लिपिकार वह होते थे जो किसी विद्वान् के निरीक्षण में तो पुस्तकों को लिपि नहीं करते थे पर अपनी आजीविका कमाने के लिए दूसरों के निमित्त प्रतियां बनाते रहते थे। जैसे जैसे किसी मनुष्य को किसी रचना की आवश्यकता पड़ी, उसने किसी लिपिकार को कहा और उसने प्रस्तुत रचना की लिपि कर दी। यह लिपिकार प्रायः कम पढ़े होते थे। अतः इनकी लिखी हुई प्रतियों में दोष अधिक होते हैं। कुछ मनुष्य अपनी मनःसंतुष्टि और निजी प्रयोग के लिए भी पुस्तकों की लिपियां बनाते थे।

Aho ! Shrutgyanam

वही लिपिकार आदर्श है[1] जो अपनी आदर्श प्रति पर अंध विश्वास रखता है, उसका यथासंभव ठीक ठीक अनुसरण करता है, मक्खी पर मक्खी मारता है। परंतु ऐसे लिपिकार प्राय: कम मिलते हैं। वह शब्द लिखते हैं, अक्षर नहीं, अर्थात् वह अपनी आदर्श प्रति से थोड़ा सा पाठ पढ़ लेते हैं और उसे अपनी प्रति में लिख लेते हैं, फिर थोड़ा सा पढ़ लेते हैं और लिख लेते हैं, और इसी तरह लिखते जाते हैं। इस से कहीं न कहीं प्रस्तुत पाठ में अंतर आ जाता है। मूढ़ पुरुष अच्छी प्रतिलिपि उतार सकता है क्योंकि लिपि करते समय वह अपनी बुद्धि को पीछे हटाए रखता है और केवल अपनी आदर्श प्रति से ही काम लेता है। जो लिपिकार अपने आदर्श के छूटे हुए अथवा त्रुटित पाठों को ज्यों का त्यों छोड़ देता है, उनको पूरा करने का प्रयत्न नहीं करता, जो अपनी प्रति में आदर्श की मामूली से मामूली अशुद्धि को भी रख देता है, वह प्राय: विश्वसनीय होता है।

लिपि करने का काम इतना सहज नहीं जितना प्रतीत होता है। लिखते लिखते लिपिकारों की कमर, पीठ और ग्रीवा दुखने लगते हैं। इस कठिनाई का उल्लेख वह स्वयं अपनी प्रशस्तियों में करते हैं, जैसे—

---

१. मत्स्य पुराण अध्याय १८९ में लेखक (लिपिकार) का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

सर्वदेशाक्षराभिज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वै ॥
शीर्षोपेतान् सुसंपूर्णान् समश्रेणिगतान समान् ।
अक्षरान् वै लिखेद् यस्तु लेखकः स वरः स्मृतः ॥
उपायवाक्यकुशलः सर्वशास्त्रविशारदः ।
बह्वर्थवक्ता चाल्पेन लेखकः स्याद् भृगूत्तम ॥
वाक्याभिप्रायतत्त्वज्ञो देशकालविभागवित् ।
अनाहार्य्यो नृपे भक्तो लेखकः स्याद् भृगूत्तम ॥

चाणक्यनीति में इस का लक्षण ऐसे किया है—

सकृदुक्तगृहीतार्थो लघुहस्तो जिताक्षरः ।
सर्वशास्त्रसमालोकी प्रकृष्टो नाम लेखकः ॥

(शब्द-कल्प-द्रुम के 'लेखक' के विवरण से उद्धृत)

काव्य मीमांसा पृष्ठ ५०—

सदःसंस्कारविशुद्ध्यर्थं सर्वभाषाकुशलः शीघ्रवाक् चार्वक्षर इङ्गिताकारवेदी नानालिपिज्ञः कविः लाक्षणिकश्च लेखकः स्यात् ।

भग्नपृष्ठकटिग्रीवः स्तब्धदृष्टिरधोमुखम् ।
कष्टेन लिखितं ग्रन्थं यत्नेन प्रतिपालयेत्[1] ॥

वह यह भी जानते थे कि हम अपने आदर्श की प्रतिलिपि पूरी तरह नहीं कर पाए, हमारी प्रति में कुछ न कुछ दोष अवश्य हो गए हैं। जैसे—

अदृश्यभावान्मतिविभ्रमाद्वा पदार्थहीनं लिखितं मयात्र ।
तत्सर्वमार्यैः परिशोधनीयं कोपं न कुर्युः खलु लेखकेषु ॥

मुनेरपि मतिभ्रंशो भीमस्यापि पराजयः ।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मह्यं दोषो न दीयताम्[1] ॥

परंतु कई प्रशस्तियों में वह अपने आप को निर्दोष बतलाते हैं और सब अशुद्धियां आदर्श के सिर मढ़ देते हैं, जैसे—

यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा तादृशं लिखितं मया ।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न विद्यते ॥

इस से स्पष्ट है कि प्रतियों में लिपिकार अशुद्धियां कर ही जाते थे। अशुद्धियां दो प्रकार की हैं—(१) दृष्टिविभ्रम और (२) मति-विभ्रम से उत्पन्न हुई अशुद्धियां। अक्षरों आदि का व्यत्यय, आगम अथवा लोप दृष्टिदोष के उदाहरण हैं जो लिपिकार के नेत्र अपने दौर्बल्य से और एकाग्रचित्तता के अभाव से करते हैं। वह अपने आदर्श की अशुद्धियों को भी सार्थ समझने का प्रयत्न करता है जिस से विचारदोष पैदा हो जाते हैं।

कई बार ऐसा होता है कि लिपिकार की अशुद्धियां उस के आदर्श अथवा मूल या प्रथम प्रति से ही आई होती हैं। यदि आदर्श कहीं से टूट फूट गया हो, तो लिपिकार उन त्रुटित अंशों को अपनी मति के अनुसार पूरा करने का प्रयत्न करता है। इस से प्रतिलिपि में कुछ अशुद्धियां आजाती हैं।

प्रतियों का शोधन—

लिपिकार को अपनी कुछ अशुद्धियों का ज्ञान होता है। वह स्वयं इन को दूर कर देता है। पर कभी कभी अपने लेख में कांट छांट न करने की इच्छा से उन का सुधार नहीं करता। यदि उस के अक्षर सुंदर हुए-जैसा कि प्राचीन काल में प्रायः होता था—तो यह प्रलोभन और भी ज़ोर पकड़ता है। कहीं पर वह इन का सुधार इस लिये भी नहीं करता था कि इन से अर्थ में कोई विपर्यय नहीं होता था।

---

१. मैक्सम्यूलर संपादित ऋग्वेद (दूसरा संस्करण) भाग १, भूमिका पृ०१३, टिप्पण।

Aho ! Shrutgyanam

अशोक की धर्मलिपियों और अन्य प्राचीन शिलालेखों में अशुद्ध अथवा फ़ालतू अक्षर, शब्द आदि को काटा होता है। प्राचीन पुस्तकों में ऐसे अक्षरों के ऊपर या नीचे बिंदु अथवा छोटी छोटी खड़ी रेखाएं बनाई मिलती हैं। कुछ शताब्दियों से इसी निमित्त हड़ताल (हरिताल) का प्रयोग भी मिलता है। कभी कभी हड़ताल से कटे हुए भाग पर भी लिखा होता है।

प्राचीन लेखों में छुटे हुए अक्षर, शब्द आदि पंक्तियों के ऊपर, नीचे या बीच में, या अक्षरों के बीच में लिखे मिलते हैं। परंतु यह बतलाने के लिए कोई संकेत नहीं होता कि यह पाठ कहां पर आना है। अर्वाचीन लेखों और पुस्तकों में इस स्थान का संकेत काकपाद या हंसपाद (+, ×, ∧, v, $\overset{v}{\wedge}$) या स्वस्तिक से किया होता है। पाठ प्रायः पन्ने के चारों ओर के हाशिए में दिया होता है। किसी किसी प्रति में जिस पंक्ति से वर्ण छूटे हों, उस की संख्या भी पाठ के साथ मिलती है।

जान बूझ कर छोड़े हुए पाठ को, या आदर्श के त्रुटित अंश को सूचित करने के लिए उस का स्थान रिक्त छोड़ दिया जाता है। कहीं कहीं इस स्थान पर बिंदुओं का या छोटी खड़ी रेखाओं का प्रयोग मिलता।

कुंडल या स्वस्तिक अपाठ्य पाठ के सूचक हैं।

कई प्रतियां स्वयं रचयिता द्वारा संशोधित भी मिलती हैं। शोधन करके वह सारी पुस्तक फिर से लिखता था, या मूलप्रति को ही शुद्ध कर लेता था। रचयिता द्वारा शोधित यह मूलप्रति लिपिकारों की आदर्श प्रति बन जाती थी। इस से पाठांतरों की उत्पत्ति हो सकती है—कहीं पर आदर्श में दो पाठ हुए, एक तो पहला पाठ और दूसरा उस का शुद्ध रूप। चूंकि इन में से शुद्ध पाठ को सूचित करने का कोई संकेत न होता था इसलिए इन में से लिपिकार एक को ग्रहण करता था और दूसरे को छोड़ देता था या हाशिए आदि में लिख लेता था। इस प्रतिलिपि के आधार पर लिखी हुई कुछ प्रतियों में दूसरे पाठ बिलकुल छूट सकते हैं। मालती-माधव की प्रतियों के निरीक्षण से वृद्ध भांडारकर[1] ने निर्णय किया कि भवभूति ने स्वयं अपनी मूलप्रति का शोधन किया होगा। इसी प्रकार टोडर मल[2] ने महावीरचरित के संबंध में कहा है।

शोधन-कार्य तीर्थस्थानों पर बड़ी सुगमता से हो सकता था। कई धनिक अपने विद्वान् मित्रों के साथ अपनी प्रतियों को भी तीर्थों पर ले जाते थे। वहां

---

१. भांडारकर संपादित मालतीमाधव, भूमिका पृ० ६।

२. टोडर मल संपादित महावीरचरित, भूमिका पृ० ८-९।

Aho ! Shrutgyanam

इन को अपनी पुस्तकें शोधने का अवसर मिलता था क्योंकि इन स्थानों पर विद्वानों का समागम होता था।

विद्या-प्रेमी राजाओं द्वारा नियुक्त विद्वान् भी शोधन किया करते थे।

सहायक सामग्री

किसी रचयिता की कृतियां पूर्ण रूप से अपनी नहीं होतीं। इस में संदेह नहीं कि वह उस रचयिता के व्यक्तित्व की छाप लिए रहती हैं, परंतु उन की भाषा, भाव, शैली आदि उस के पूर्ववर्त्ती ग्रंथकारों से प्रभावान्वित होते हैं। उन पर तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियों का प्रभाव भी यथोचित रूप में होता है। इसी प्रकार उस रचयिता का प्रभाव उस के परवर्त्ती ग्रंथकारों पर भी पड़ता है। अतः इस संसार में कोई रचयिता एकाकी नहीं होता। इसलिए उस रचयिता की कृतियों की अपनी प्रतिलिपियों के अतिरिक्त कुछ सामग्री ऐसी भी प्राप्त हो जाती है जो उस रचना विशेष के अवतरण, भाषांतर, टीका-टिप्पण इत्यादि के रूप में हो सकती है। इसको हम **सहायक सामग्री** कहते हैं क्योंकि यह मूल ग्रंथ के संपादन में सहायता मात्र होती है। इस के आधार पर संपादन नहीं किया जाता।

यदि कोई रचयिता ऐसा हो जिस का दूसरों से संबंध स्थापित न हो सके, और उस की कृति केवल प्रतियों के आधार पर ही हमें उपलब्ध हो, तो कोई नहीं जान सकता कि उसकी प्राचीनतम प्रति के लिपिकाल के पूर्व उस रचना की क्या अवस्था थी। उस की प्रतियों का निरीक्षक केवल इतना बतला सकता है कि अमुक रचना की उपलब्ध प्रतियां किसी काल, देश और लिपि विशेष के प्रथमादर्श के आधार पर लिखित हैं। वह नहीं कह सकता कि उपलब्ध प्राचीनतम प्रति के लिपि-काल से बहुत पहले उस कृति की क्या दशा थी, वह कौन कौन से देश में प्रचलित थी, आदि। संपादक सहायक सामग्री के आधार पर उस रचना के इतिहास का अनुमान कर सकता है।

यह सहायक सामग्री निम्नलिखित रूपों में प्राप्त हो सकती है—

उद्धरण—

पुस्तक लिखते समय, ग्रंथकार अपने सिद्धांत की पुष्टि के लिए अन्य पुस्तकों से समान पंक्तियां ज्यों की त्यों ग्रहण कर लेता है; इन को उद्धरण या अवतरण कहते हैं।

उद्धरण प्रायः सारे साहित्य में मिलते हैं और काव्य, व्याकरण, छंदस् आदि

Aho ! Shrutgyanam

पारिभाषिक साहित्य में प्राचुर्य से मिलते हैं। पारिभाषिक ग्रंथों के रचयिता प्राचीन सिद्धांतों के विशद विवेचन तथा आलोचन के लिए और अपने नियमों को समझाने के लिए उदाहरण रूप में पूर्ववर्ती मौलिक ग्रंथों से पाठ उद्धृत करते हैं। परंतु यह आवश्यक नहीं कि जिस लेखक या ग्रंथ से पाठ उद्धृत किया हो उस का नाम दिया हो—प्राय: बिना नाम के ही उद्धरण मिलते हैं।

उदाहरण—बृहद्देवता का लगभग पांचवां भाग षडगुरुशिष्य ने सर्वानुक्रमणी की टीका में, सायण ने अपने भाष्यों में और नीतिमञ्जरी में उद्धृत किया गया है। इनकी सहायता से मॅकडॉनल ने बृहद्देवता के कई पाठों का निश्चय किया जो कि वैसे संदिग्ध रह जाते; कहीं कहीं पाठ-सुधार भी किया है, जैसे—(अध्याय ५, श्लोक ३४) "ददौ च रौशम:" के स्थान पर *fk* प्रतियों में "ददौ न रौशनो", *b* में "ददै रागो रौशनौ", *r* में "ददौ तदौ शनौ", और *m* में "ददौ तदाशनौ" पाठ थे और नीतिमंजरी (५, ३०, ५५) के आधार पर उपर्युक्त पाठ निश्चित किया गया। (अ० ७, श्लो० ६८) 'अयमन्त:परिष्यसु:' के स्थान पर प्रतियों में भिन्न भिन्न अपपाठ थे जिन को सायण (ऋग्० १०, ६०, ७) के अनुसार सुधारा है। इन्हीं के आधार पर बृहद्देवता की बृहद्धारा B के कई स्थलों को मॅकडॉनल ने मौलिक माना है और उन का पुनर्निर्माण किया है। जैसे अ० ४ श्लो० २३; ५, ५६-५८; ५, ६५, ६६; ६, ५२-५६; ७, ४२-४३; ७, ६५ आदि नीतिमंजरी और सर्वानुक्रमणी की षड्गुरुशिष्यप्रणीता टीका में मिलते हैं, अत: इन में मौलिकता हो सकती है।

उद्धरणों के विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिन ग्रंथों में उद्धरण मिलते हैं वह तुलनात्मक रीति से संपादित हो चुके हैं या नहीं। यदि नहीं तो उन के पाठान्तरों को अवश्य देखना चाहिए। संभव है इन पाठांतरों में से ही कोई पाठ मौलिक हो। दूसरी बात यह है कि प्राचीन लेखक अन्य पुस्तकों को प्राय: अपनी स्मृति से ही उद्धृत करते थे और उन को मूलपंक्ति से मिलाने का प्रयत्न न करते थे। अत: ऐसे उद्धरणों का महत्त्व इतना अधिक नहीं। परंतु सिद्धांत ग्रंथों में उद्धरणों को सावधानता से ग्रहण किया जाता था, इसलिए यह अधिक विश्वसनीय होते हैं।

सुभाषित-संग्रह—

यदि संपादनीय कृति के कुछ अवतरण किसी सुभाषित-संग्रह में मिलते हों, तो वह संग्रह संपादन में यथोचित सहायता दे सकता है, क्योंकि वह संग्रह प्रस्तुत ग्रंथ की उपलब्ध प्रतियों से प्राय: अधिक प्राचीन होता है। कुछ सुभाषित संग्रह यह हैं—संस्कृत—कवीन्द्रवचनसमुच्चय (दशवीं शताब्दी विक्रम);

Aho ! Shrutgyanam

श्रीधरदास की सदुक्ति (सूक्ति) कर्णामृत (वि० सं० १२६२); जल्हण की सदुक्ति-मुक्तावली (वि० सं० १३०४); शार्ङ्गधरपद्धति (वि० सं० १४२०) आदि।

प्राकृत—हाल की सत्तसई; मुनिचन्द्र का गाथाकोश (वि० सं० ११७६); जयवल्लभ का वज्जालग्ग ; समयसुन्दर की गाथासहस्री (वि० सं० १६८७) आदि।

भाषांतर या अनुवाद—किसी शब्द वाक्य या पुस्तक के आधार पर दूसरी भाषा में लिखे हुए शब्द, वाक्य, पुस्तक आदि को अनुवाद या भाषान्तर कहते हैं।

अनुवाद से अनूदित और अनूदित से अनुवाद ग्रंथों के संपादन में पर्याप्त सहायता मिलती है। जब यह अनुवाद प्रस्तुत ग्रंथ की उपलब्ध प्रतियों से प्राचीन हो, तो यह संपादन-सामग्री का एक अनुपेक्षणीय और महत्त्वपूर्ण अंग बन जाता है।

बौद्ध धर्म की महायान शाखा का साहित्य बहुधा संस्कृत भाषा में था। इस के अनुवाद चीनी तथा तिब्बती भाषाओं में अति प्राचीन काल में हो चुके थे। अतः इन अनूदित ग्रंथों के संपादन में अनुवादों का प्रचुर प्रयोग किया जाता है जैसे जॉनस्टन ने अश्वघोष के बुद्धचरित में किया है। इसी प्रकार महाभारत के ग्यारहवीं शताब्दी में किए हुए भाषा अनुवाद तलगू तथा जावा की भाषा में मिलते हैं। इन का प्रयोग महाभारत के संपादन में पूना वालों ने किया है। कई स्थानों पर इन अनुवादों ने संपादकों द्वारा अंगीकृत पाठ को प्रामाणिक सिद्ध किया है[1]।

अनूदित परंतु अब अनुपलब्ध रचना के पुनर्निर्माण में अनुवाद ही का आश्रय लेना पड़ता है जैसे कुमारदास का जानकीहरण जो चिरकाल से भारत में लुप्त हो चुका था। इस का संस्कृत संस्करण लंका की भाषा (Simhalese) के शब्दशः अनुवाद के आधार पर निकला था। अश्वघोष के बुद्धचरित के सर्ग ६ के २६-३७ श्लोकों का कुछ अंश त्रुटित हो गया था। इसका पुनर्निर्माण जॉनस्टन ने तिब्बती अनुवाद के आधार पर किया है[2]।

टीका, टिप्पनी, भाष्य, वृत्ति आदि—

टीकाओं में प्रायः प्रतीक (ग्रंथ की पंक्ति या श्लोक का अंश) को उद्धृत करके उस का अर्थ और मूल व्याख्या दी जाती है। इन प्रतीकों से उस ग्रंथ के तात्कालिक पाठों का पता चल सकता है। कई बार टीकाकार अपने समय में उपलब्ध प्रतियों का मिलान कर के सम्यक् या समीचीन पाठ ग्रहण कर लेते थे और

---

१. देखो महाभारत उद्योगपर्वन् (पूना १९४०), भूमिका पृ० २२।

२. डा० ई० एच० जॉनस्टन संपादित बुद्धचरित (लाहौर, १९३५), भूमिका पृ० ८।

Aho ! Shrutgyanam

दूसरे पाठ का निर्देश कर देते थे। कहीं कहीं तो त्यक्त पाठ के साथ असम्यक्, अपपाठः, प्रायशः पाठः, अर्वाचीनः पाठः, प्रमादपाठः आदि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है[1]। कई बार टीकाकार पाठ की समीचीनता को भी सिद्ध करते थे[2]।

संपादन में टीका आदि का प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए। जहां किसी प्रकरण पर टीका न मिलती हो वहां यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह प्रकरण प्रस्तुत ग्रंथ में था ही नहीं, क्योंकि हो सकता है कि टीकाकार ने उस को सुगम समझ कर छोड़ दिया हो। यदि वह प्रकरण कठिन हो तो ऐसा समझ लेने में आपत्ति नहीं। कणिकनीतिप्रकरण[3] पर देवबोध की टीका का अभाव है परंतु नीलकंठ तथा अर्जुनमिश्र ने विस्तृत व्याख्या की है। यह प्रकरण है काफ़ी कठिन और महाभारत की शारदा तथा काश्मीरी धाराओं में मिलता भी नहीं। इसलिए इस को प्रक्षेप मानने में दोष नहीं।[4] निरुक्त के दुर्गप्रणीत भाष्य में निरुक्त का पाठ अक्षरशः मिलता है, अतः इस से निरुक्त के पाठ-निर्णय में बड़ी सहायता मिलती है[5]।

सार ग्रंथ—

सार से मूल और मूल से सार ग्रंथ के संपादन में यथोचित सहायता मिलती है। काश्मीरी कवि क्षेमेंद्र की भारतमंजरी महाभारत की काश्मीरी धारा का सारमात्र है, अतः यह ग्यारहवीं शताब्दी में काश्मीर प्रांत में महाभारत की क्या परिस्थिति थी इस पर प्रकाश डालती है। इसी कवि की रामायणमंजरी, अभिनंद का कादम्बरी-कथासार आदि अनेक सार ग्रंथ हैं।

अनुकरण ग्रंथ—

अनुकरण ग्रंथ और अनुकृत ग्रंथ एक दूसरे के पाठ-सुधार में प्रचुर सहायता देते हैं। क्षेमेंद्र ने पद्यबद्ध कादम्बरी लिखते समय बाण की कादम्बरी का अनुकरण किया है।

किसी श्लोक के अंतिम पाद या टुकड़े के आधार पर पूरा श्लोक बनाने को समस्या-पूर्ति कहते हैं। इस रीति से ग्रंथ भी बनाए जा सकते हैं। कालिदास के

---

१. महा० उद्योग० भू० पृ० १५ डा० लक्ष्मणस्वरूप संपादित निरुक्त (लाहौर, १६२०) भूमिका पृ० ४५।

२. पी० के० गोडे का लेख, वूलनर कोमेमोरेशन वाल्यूम (लाहौर, १६४०)।

३. महा० बम्बई संस्करण, पर्व १; अध्याय १४०, पूना संस्करण पर्व १, परिशिष्ट १, ८१।

४. महा० १, भूमिका पृ० २५।

५. डा० लक्ष्मण स्वरूप संपादित निरुक्त, भूमिका पृ० ४४।

मेघदूत काव्य की समस्या-पूर्त्ति के रूप में जिनसेन ने एक स्वतंत्र ग्रंथ 'पार्श्वाभ्युदय' की रचना की।

समान पाठ—

महाभारत, पुराण आदि कई ग्रंथ किसी व्यक्ति विशेष की कृति नहीं प्रत्युत किसी संप्रदाय, आम्नाय या शाखा के गुरुओं की कई पीढ़ियों द्वारा निर्मित हुए हैं। ऐसे ग्रंथों में प्राय: समान वृत्त, पाठ, प्रकरण आदि मिलते हैं जो संपादन में पर्याप्त सहायता देते हैं। महाभारत (पर्व १, ६२-) में आया हुआ शकुंतलोपाख्यान पद्मपुराण में भी मिलता है। पुराणों में आए हुए समान प्रकरणों को किर्फ़ल (Kirfel) ने 'डास पुराणं पंच लक्षणं में संगृहीत किया है।

किसी ग्रंथकार के अन्य ग्रंथ—

नीचे उद्धृत किए गए संदर्भ से यह स्पष्ट हो जाए गा कि किसी रचना के संपादन में उसी ग्रंथकार के अन्य ग्रंथों का पर्यवलोकन कैसे सहायता देता है।

"गोस्वामी (तुलसीदास) जी की वाणी का तथ्य जितना उन्हीं के ग्रंथों द्वारा समझा जा सकता है उतना और किसी प्रकार से नहीं। किसी भी शब्द, वाक्य या भाव का गोस्वामी जी ने ऐकान्तिक प्रयोग नहीं किया है। किसी न किसी दूसरे स्थान से उस की पुष्टि, उस का समर्थन और स्पष्टीकरण अवश्य होता है। यदि ध्यानपूर्वक मिलान किया जाय तो गोस्वामी तुलसीदास जी ने सभी प्रकरणों का उपक्रम और उपसंहार बड़ी ही सुंदरता से किया है। एक प्रकार के वस्तुवर्णन में भिन्न भिन्न स्थलों पर शब्दों की कुछ ऐसी समानता रख दी है कि जिन पर दृष्टि न रखने से लोग भटक जाते हैं। कहीं कहीं तो एक ग्रंथ का भाव दूसरे ग्रंथ की सहायता से अधिक स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिए नीचे रामचरितमानस के कुछ स्थल दिए जाते हैं जहां मिलान न करने के कारण लोगों को धोखा हुआ है और पाठ में गड़बड़ी की गई है।

(१) सकइ उठाइ **सरासुर** मेरु। सोउ तेहि सभा गएउ करि फेरु।

१। २९१। ७

सर+असुर=बाणासुर—इस अर्थ को न समझ कर बहुत लोगों ने 'सुरासुर' पाठ कर दिया है। यदि निम्नलिखित अवतरणों पर ध्यान दिया गया होता तो 'सरासुर' ऐसा सुंदर आलंकारिक शब्द न बदला जाता।

रावन **बान** महा भट भारे। देखि सरासन गवहिं सिधारे।

जिन के कछु बिचार मन माहीं। चाप समीप महीप न जाहीं।

१। २४६। २

Aho ! Shrutgyanam

रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा।

१।२५५।३

(२) ओर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु मातु सुजन सेवकाई।

२।१५१।५

'ओर निबाहेहु' का अर्थ होता है अंत तक निबाहना। इस का पाठ लोगों ने 'और निबाहेहु' वा 'अउर निबाहेहु' बदल दिया है। निम्नलिखित अवतरणों पर ध्यान न देने से यह भूल हुई है।

सेवक हम स्वामी सिय नाहू। होउ नात यह ओर निबाहू। २।२३।६

प्रनतपाल पालहिं सब काहू। देव दुहूं दिसि ओर निबाहू। २।३१३।४

(पद-पद्म गरीब निवाज के।)

देखिहौं जाइ पाइ लोचन फल हित सुर साधु समाज के।

गई बहोरि ओर निरबाहक साजक बिगरे साज के॥

गीतावली (सुंदर कांड) पद सं० २६

(मों पै तो न कछू है आई।)

ओर निबाहि भली बिधि भायप चल्यौ लषन सो भाई॥

गीतावली (लंका कांड) पद सं० ६

... ...

सरनागत आरत प्रनतनि को दै दै अभय पद ओर निबाहैं।

करि आईं, करिहैं करती हैं तुलसीदास दासनि पर छाहैं॥

गी० (उत्तर कांड) पद सं० १३

दुखित देखि संतन कह्यो सोचै जनि मन माहूँ।

तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न सरन गए रघुबर ओर निबाहू।

विनयपत्रिका पद सं० २७५

... ...

(५) सोइ सिसुपन सोइ सोभा सोइ कृपाल रघुबीर।

भुवन भुवन देखत फिरौं प्रेरित मोह समीर॥ ७।८१

'समीर' पाठ लोगों ने बदल कर 'सरीर' कर दिया है। प्रेरणा करने का गुण समीर का है, यथा—

Aho ! Shrutgyanam

पुनि बहु बिधि गलानि जियमानी । अब जग जाइ भजौं चक्रपानी ।
ऐसेहि करि बिचार चुप साधी । प्रसव पवन प्रेरेउ अपराधी ।
प्रेरेउ जो परम प्रचंड मारुत कष्ट नाना तैं सह्यौ ।
सो ज्ञान ध्यान बिराग अनुभव जातना पावक दह्यौ ।

विनयपत्रिका पद १३६ (५)"

तीसरा अध्याय

प्रतियों का मिलान

संपादक को चाहिए कि जो सामग्री मिल सकती हो उसे इकट्ठा करे । प्रतिलिपियों का सूक्ष्म अवलोकन करे । उन की व्यक्तिगत विशेषताओं की देख भाल करे। यह देखे कि उन की कौन कौन सी बात मौलिक या प्राचीनतम पाठ के निर्णय में सहायता दे सकती है । इस प्रकार की जांच को प्रतियों का **मिलान** कहते हैं। मिलान से हमें यह पता चलता है कि अमुक प्रति की कौन कौन सी बात उस के आदर्श में विद्यमान थी । सब प्रतियों का निरीक्षण और मिलान कर चुकने पर प्रस्तुत ग्रंथ के मौलिक अथवा प्राचीनतम पाठ का निश्चय करने के निमित्त संपादक प्रामाणिक और विश्वसनीय सामग्री को जुदा करे । वह इस सामग्री का बार बार सूक्ष्म अवलोकन करे और इसी के आधार पर मूलपाठ का निश्चय करे ।

प्रत्येक प्रति का साधारण रूप किसी पाठ के निश्चय में विशेष सहायता देता है। किसी ग्रंथ की 'क' और 'ख' दो प्रतियां हैं । इस के परस्पर मिलान से यदि ज्ञात हो कि जहां इन में पाठभेद है वहां 'ख' की अपेक्षा 'क' में शुद्ध, मौलिक एवं संभव पाठों की संख्या अधिक है, तो 'क' के पाठ 'ख' के पाठों से प्राय: अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय होंगे ।

परंतु यह नियम सर्वथा सिद्ध नहीं क्योंकि जो प्रतियां प्राय: अशुद्ध होती हैं उन में भी कहीं कहीं शुद्ध और मौलिक पाठ हो सकते हैं । और शुद्ध पाठों वाली प्रतियों में अशुद्ध और दूषित पाठ मिलते हैं । पिशल के शाकुंतल (दूसरा संस्करण) में प्रयुक्त B प्रति प्राय: अशुद्ध पाठों से भरी पड़ी है जैसे 'आयुष्मान्' के स्थान पर निरर्थक 'आमुष्मान्' आदि । इस में मौलिक पाठों की कमी है । फिर भी इस में कहीं कहीं

---

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वैशाख १९९९ में 'शंभुनारायण चौबे' का 'मानस-पाठ भेद' नामक लेख, पृ० ३-७ ।

Aho ! Shrutgyanam

मौलिक पाठ मिलते हैं जैसे १, ४/५ में 'अहिगीदु' के स्थान पर इस प्रति में 'अहिअरीअदु' पाठ है जो शाकुंतल की दक्षिणी धारा में भी मिलता है। अतः यह पाठ मौलिक है।

यह देखना आवश्यक है कि किसी प्रति में सारा पाठ समान रूप से लिखा गया है या कि नहीं। हो सकता है कि एक ही प्रति के भिन्न भिन्न भाग भिन्न भिन्न आदर्शों के आधार पर एक या अनेक लिपिकारों द्वारा लिपिकृत हों। यह प्रायः महाभारत, पुराण, पृथ्वीराजरासो आदि बृहत्काय ग्रंथों में अधिक संभव होता है। इस से सारी प्रति की विश्वसनीयता और प्रामाणिकता समान नहीं रहती। ऐसी परिस्थिति में भिन्न भिन्न भागों की विश्वसनीयता का जुदा जुदा निर्णय करना पड़ता है। कई बार ऐसा होता है कि आदर्श के कुछ पत्रे गुम हो चुके होते हैं या उस में कुछ पाठ उपलब्ध न हो तो भी लिपिकार इन लुप्त अंशों को किसी दूसरे आदर्श के आधार पर पूरा कर सकता है। इस से भी सारी प्रति की विश्वसनीयता एक सी नहीं रहती।

देखने में आता है कि प्रतिलिपि हम तक अपने असली रूप में नहीं पहुंचती। प्रायः इस में अशुद्धियों को दूर करने का प्रयत्न किया होता है। इस के पाठ को कांटा छांटा होता है। यह शोधन स्वयं प्रति का लिपिकार, रचयिता या कोई अन्य विद्वान करता था। यदि एक ही प्रति को कई शोधकों ने शुद्ध किया हो तो भिन्न भिन्न शुद्धियों की विश्वसनीयता में अंतर होगा। कई बार तो ऐसा भी होता है कि शोधक अपनी ओर से तो विद्वत्ता दिखलाने का प्रयत्न करता है परंतु वास्तव में वह शुद्ध पाठ को अशुद्ध कर देता है। इसलिए हमें भली प्रकार जान लेना चाहिए कि प्रति में कौन कौन से हाथों ने काम किया है। इसी लिए इस बात का निर्णय करना भी आवश्यक है कि शोधन से पहले प्रति में क्या पाठ था। अकसर देखा जाता है कि शोधनीय प्रति में जो पाठ अन्य प्रतियों से भिन्न हो, शोधक प्रायः उस को हटा कर उपलब्ध प्रतियों के साधारण पाठ को रख देता है, चाहे पहला पाठ शुद्ध ही क्यों न हो।

लिपिकाल—

प्रतिलिपियों की तुलनात्मक विश्वसनीयता की जांच काफ़ी हद तक उन के लिपिकाल पर भी निर्भर होती है। इसलिए हमें संपादनीय ग्रंथ की जितनी प्रतियां उपलब्ध हों उन को उन के लिपिकाल के अनुसार क्रमबद्ध कर लेना चाहिए। योरुप में प्रतियों का लिपिकाल प्रायः नहीं दिया होता, इसलिए उनका क्रम उनकी लिपि,

Aho ! Shrutgyanam

लेखन-सामग्री आदि के आधार पर निश्चित करना पड़ता है[1] । परंतु भारत में यह दशा इतनी शोचनीय नहीं । यहां पर लिपिकाल अधिकतर प्रतियों में दिया होता है । कई प्रतियों में आदर्श का काल भी दिया होता है। यदि कोई प्रति अंत में त्रुटित या खंडित हो तो अवश्य इस के निश्चय में कठिनाई पड़ती है । तब लिपि, लेखन-सामग्री आदि के आधार पर इन का लिपिकाल निर्धारित किया जाता है । लिपिकाल प्रति के अंत में दी हुई लिपिकार की प्रशस्ति या पुष्पिका में दिया होता है जिस में वह अपना व्यक्तिगत वृत्तांत भी देता है । प्रति जितनी प्राचीन होगी, उस की विश्वसनीयता भी उतनी ही अधिक होगी। परंतु कहीं कहीं यह नियम लागू नहीं होता, क्योंकि हो सकता है कि कोई अर्वाचीन प्रति ' ग ' किसी अति प्राचीन आदर्श 'ख' के आधार पर लिखित हो। दूसरी और प्रतियां 'ज', 'झ', 'ञ' भी हों जो इस से हों तो प्राचीनतर, परंतु जिन का आदर्श 'छ' पहली प्रति के आदर्श 'ख' से कम प्राचीन हो । ऐसी अवस्था में अर्वाचीन प्रति 'ग' दूसरी 'ज' 'झ' आदि प्राचीन प्रतियों से अधिक विश्वसनीय हो सकती है। यह बात निम्नलिखित चित्र से भली प्रकार स्पष्ट हो जावेगी ।

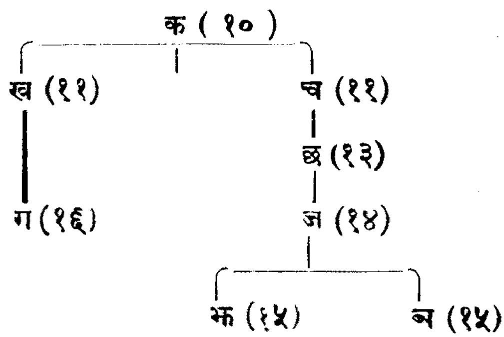

(नोट—इस चित्र में 'क', 'ख' आदि अक्षर प्रतियों के नाम हैं और (१०), (११) आदि अंक प्रतियों के लिपिकाल की शताब्दियां हैं।)

यदि हर एक लिपिकार पांच प्रति शत अशुद्धियां करे, तो 'ग' ९०.२५ प्रति शत और 'ज' ८५.७५ प्रति शत और 'झ' तथा 'ञ' तो ८१.५ प्रतिशत शुद्ध होंगी। इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'ज', 'झ', और 'ञ' की अपेक्षा 'ग' अधिक विश्वसनीय है ।

लिपिकाल-निर्धारण

जब प्रतियों के लिपिकाल का निश्चित ज्ञान न हो, तो उन का परस्पर संबंध

१, हाल—कम्पैनिअन टु क्लासिकल टैक्स्टस, पृ० १२८ ।

निर्धारित करने में कठिनाई होती है। ऐसी परिस्थिति में इन के संबंध जांचने के साधारण नियम यह हैं—

(१) पाठ-लोप और पाठ-व्यत्यय—जब अनेक प्रतियों में पाठ-लोप अथवा पाठ-व्यत्यय समान रूप से हो तो उन प्रतियों का पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ होता है। इन में से लोप तो अधिक प्रामाणिक है क्योंकि यह बात प्रायः संभव नहीं होती कि अनेक प्रतियों में एक ही पाठ लुप्त हो गया हो। यह भी नहीं होता कि किसी प्रति में अन्य प्रतियों का मिलान करके पाठ लोप किया गया हो। इस से यह भी सिद्ध हो सकता है कि एक प्रति दूसरी प्रति का आदर्श है। इसी प्रकार अनेक प्रतियों में समान पाठ-व्यत्यय भी उन के लिपिकारों ने अपने आदर्श से ही लिया होता है।

(२) जब अनेक प्रतियों में विशेष पाठों का स्वरूप समान हो या उन प्रतियों की विशेषताएं समान हों, तो उन में परस्पर सम्बन्ध होता है। मॅकडौनॅल ने बृहद्देवता के संस्करण में जिन प्रतियों का प्रयोग किया उन में से '*h*', '*m*²', '*m*³' औ '*d*' परस्पर संबद्ध हैं क्योंकि उन सब के अन्त में "अमोघनन्दनशिक्षायां लक्षणस्य विशेषोऽपि ....शौनककारिकायामुक्तम्"—यह पाठ समान रूप से मिलता है जो अन्य प्रतियों में नहीं मिलता। इसी प्रकार इन में बृहद्देवता से ही संकलित "अथ वैश्वदेवसूक्ते देवताविचारः—भिन्ने सूक्ते वदेद्देव च" (१. २०) आदि कुछ उद्धरण समान रूप में प्राप्त होते हैं[१]।

(३) जब आदर्श और प्रतिलिपि दोनों उपलब्ध हों तो उनके निरीक्षण से यह संबंध ज्ञात हो जाता है। यदि एक प्रति में कुछ ऐसी विचित्र अशुद्धियां हों जिन का समाधान किसी अन्य प्रति के अवलोकन से हो जाए तो दूसरी प्रति पहली का आदर्श होती है।

प्रायः देखा जाता है कि दो प्रतियों का परस्पर संबंध इतना शुद्ध और सरल नहीं होता जितना कि हम ऊपर मानते रहे हैं। यह आवश्यक नहीं कि कोई प्रति किसी एक ही आदर्श के आधार पर लिखित हो। संभव है कि लिपिकार ने दूसरी प्रतियों की सहायता लेकर अपने पाठ बनाए हों। इसी कारण जो प्रतियां अंततः एक ही मूलादर्श से लिखित हों उन में भी प्रायः पूर्ण समानता नहीं होती। उन में कुछ न कुछ अंतर अन्य आदर्शों के कारण आ जाता है। इस से ज्ञात हुआ कि प्रतियों का परस्पर संबंध दो प्रकार का है—शुद्ध और संकीर्ण।

---

१. ए० ए० मॅक्डौनल संपादित बृहद्देवता, भाग १, भूमिका पृ० १३–१४।

Aho ! Shrutgyanam

शुद्ध संबंध—

शुद्ध संबंध से हमारा अभिप्राय उस संबंध से है जो ऐसी दो प्रतियों में हो जो केवल एक ही आदर्श के आधार पर लिखित हों, या जब उन में एक आदर्श हो और दूसरी उस की प्रतिलिपि। इन प्रतियों के लिपि करने में आदर्श के अतिरिक्त अन्य किसी प्रति से सहायता नहीं ली होती।

उदाहरण—किसी रचना की सात प्रतियां उपलब्ध हैं जिनके नाम क, ख, ग, घ, ङ, च, छ हैं। यदि इन में से क और शेष ६ प्रतियों में कोई विशेष समानता न हो तो क इन सब से भिन्न होगा। यदि इन ६ प्रतियों में से ख, ग, घ, ङ परस्पर बहुत मिलती हों परंतु क और च, छ से काफ़ी भिन्न हों, और इसी प्रकार यदि च, छ आपस में मिलती हों, तो हम कह सकते हैं कि क अकेली है, ख, ग, घ, ङ एक गण या वंश की हैं और च, छ दूसरे की। इन प्रतियों के निरीक्षण से ज्ञात हुआ कि ख, ग, घ, ङ एक ही काल्पनिक आदर्श "य" के आधार पर लिखित हैं और च छ अन्य किसी काल्पनिक आदर्श "र" के। हम पहले बतला चुके हैं कि लिखते समय प्रति में अशुद्धियां आ जाती हैं, अतः प्रतिलिपि की शुद्धि आदर्श की शुद्धि से कम होती है। क्योंकि "य" ख, ग, घ, ङ का आदर्श है इसलिए 'य" के पाठ इन के पाठों की अपेक्षा अधिक शुद्ध, अधिक प्राचीन और अधिक प्रामाणिक होंगे। ख, ग,घ,ङ के मिलान से "य" के पाठों का पुनर्निर्माण हो सकता है। यदि "य" उपलब्ध होता तो हम देख सकते थे कि "य" के पाठ वास्तव में ख ग घ ङ में से किसी एक प्रति के पाठों से अधिक शुद्ध, प्राचीन और प्रामाणिक हैं। और हम ख ग घ ङ के लिपिकारों की कुछ अशुद्धियों का समाधान भी कर सकते थे। इसी प्रकार "र" के पाठ च, छ में से किसी एक प्रति के पाठों से अधिक शुद्ध, प्राचीन और प्रामाणिक होंगे। यदि ख,ग,घ, ङ प्रतियों में ख, ग परस्पर बहुत मिलती हों और कुल-मर्यादा भी न छोड़ती हों तो ख, ग किसी काल्पनिक आदर्श "ल" की प्रतिलिपियां होंगी। अतः "ल" के पाठ ख, ग में से किसी एक के पाठों से अधिक शुद्ध, प्राचीन और प्रामाणिक होंगे।

यदि क और काल्पनिक आदर्श 'य,""र"" का परस्पर संबंध स्पष्ट झलके तो वह किसी अन्य काल्पनिक आदर्श "व" पर आश्रित होंगे। अतः 'व"के पाठ क,'य,र," की अपेक्षा अधिक शुद्ध, प्राचीन और प्रामाणिक होंगे। यह "व" इन सब प्रतियों का मूल-स्रोत होगा। इस को उपलब्ध सब प्रतियों का काल्पनिक मूलादर्श कहेंगे हैं। 'क, य, र," (ख, ग, घ,ङ,च,छ) के आधार पर "व" का पुनर्निर्माण हो सकता है।

Aho ! Shrutgyanam

निम्नलिखित चित्र इन प्रतियों के परस्पर संबंध को सूचित करता है—

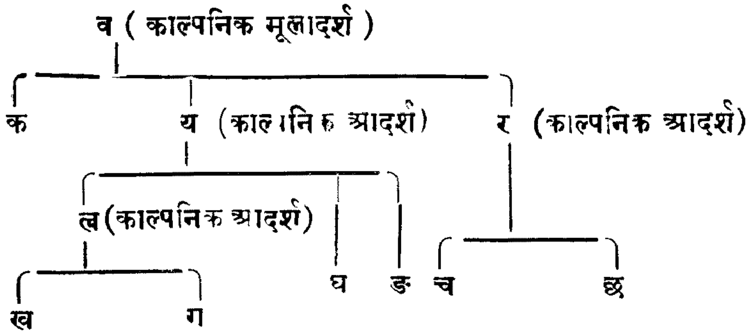

इस उदाहरण की सब प्रतियों का परस्पर संबंध शुद्ध है—वह सब किसी एक काल्पनिक मूलादर्श के आधार पर लिखित हैं।

संकीर्ण संबंध

उपर्युक्त उदाहरण में हमने कल्पना की थी कि "य" गण की किसी प्रति में "र" गण के विशेष पाठ नहीं आते और इसी प्रकार "र" गण की प्रतियों में 'य" गण के विशेष पाठ नहीं मिलते। परंतु वास्तव में ऐसा नहीं होता। किसी प्रति की पाठ-परम्परा उसके सब भागों में समान नहीं होती। जब एक प्रति एक ही आदर्श के आधार पर लिखित नहीं होती प्रत्युत अनेक आदर्शों के आधार पर लिपिकृत होती है तो ऐसी अवस्था में प्रतियों के परस्पर संबंध को संकीर्ण कहते हैं। निम्नलिखित चित्र से यह स्पष्ट हो जाएगा।

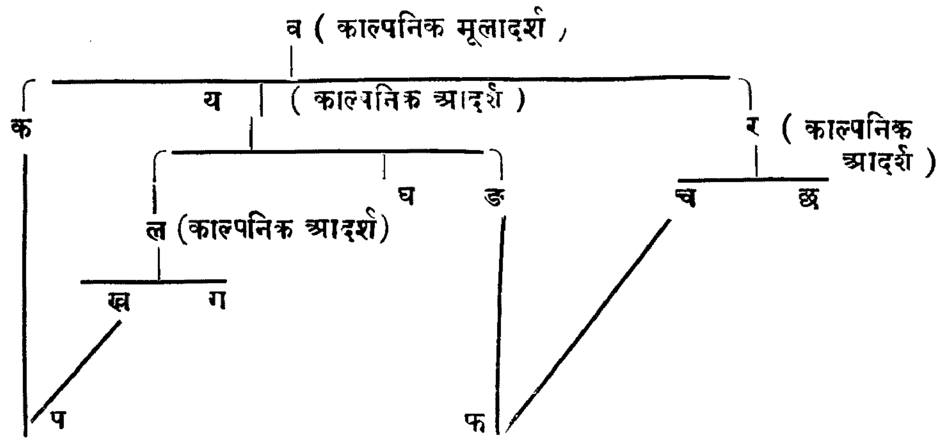

इस चित्र में क, ख, ग, घ, ङ, च, छ का परस्पर संबंध तो शुद्ध है। परंतु क और ख के आधार पर प और ङ और च के आधार पर फ लिपिकृत हैं अतः प, फ का परस्पर संकीर्ण संबंध है।

Aho ! Shrutgyanam

संकर के बढ़ने के साथ साथ उस का सुलझाना भी कठिन होता जाता है। इस से प्रतियों में शुद्धता एवं अशुद्धता का समावेश तो अवश्य होता है परंतु इस बात का निर्णय सरल नहीं कि किस प्रति में इसके कारण कितनी शुद्धता और कितनी अशुद्धता आई है। संकीर्ण प्रति को लिखते समय लिपिकार के सामने कई पाठांतर उपस्थित होते हैं। इन में से लिपिकार अपनी बुद्धि के अनुसार पाठ चुन लेता है। परंतु लिपिकारों की विद्वत्ता प्राय: कम ही होती है, इसलिए उनका चुनाव सदा शुद्ध नहीं हो सकता जब कि विद्वान् शोधक भी पूरी तरह शोधन नहीं कर पाते[1]। अत: संकर प्राय: पाठ-अशुद्धि को बढ़ाता है। फिर भी संकीर्ण प्रतियों की अपनी महत्ता होती है। जब किसी संकीर्ण प्रति के अनेक आदर्शों में से कोई एक आदर्श लुप्त हो चुका हो तो इसी संकीर्ण प्रति के आधार पर उस लुप्त आदर्श के पाठों का अनुमान किया जाता है। पंचतंत्र की पूर्णभद्रीय धारा में कुछ पाठ एवं स्थल ऐसे हैं जिन के आधार पर हर्टल और इजर्टन उस में पंचतंत्र की एक लुप्त धारा की पुट मानते हैं।

पंचतंत्र की संकीर्ण धाराएं—पंचतंत्र की कुछ धाराएं संकीर्ण संबंध का अच्छा उदाहरण हैं। पंचतंत्र पुनर्निमाण में इजर्टन[2] पंचतंत्र की निम्नलिखित धाराएं मानता है—

१. तंत्राख्यायिका, साधारण अथवा प्रचलित पंचतंत्र तथा पूर्णभद्रीय पंचतंत्र।

२. दक्षिणी और नेपाली पंचतंत्र, तथा हितोपदेश।

३. सोमदेव का कथासरित्सागर और क्षेमेंद्र की बृहत्कथामंजरी, जो बृहत्कथा की दो भिन्न धाराएं हैं।

(४) पहलवी भाषांतर।

इन धाराओं का चित्र इस प्रकार है।

---

१. हर्टल ने तंत्राख्यायिका में कई पाठ-सुधार किए, परंतु इजर्टन के मतानुसार वह नहीं होने चाहिएं। उन में से वह कुछ सुधारों को ही ठीक मानता है। देखो पंचतंत्र रीकन्स्ट्रक्टिड भाग २, पृष्ठ २६०-२६३।

२. वही, अध्याय २।

Aho ! Shrutgyanam

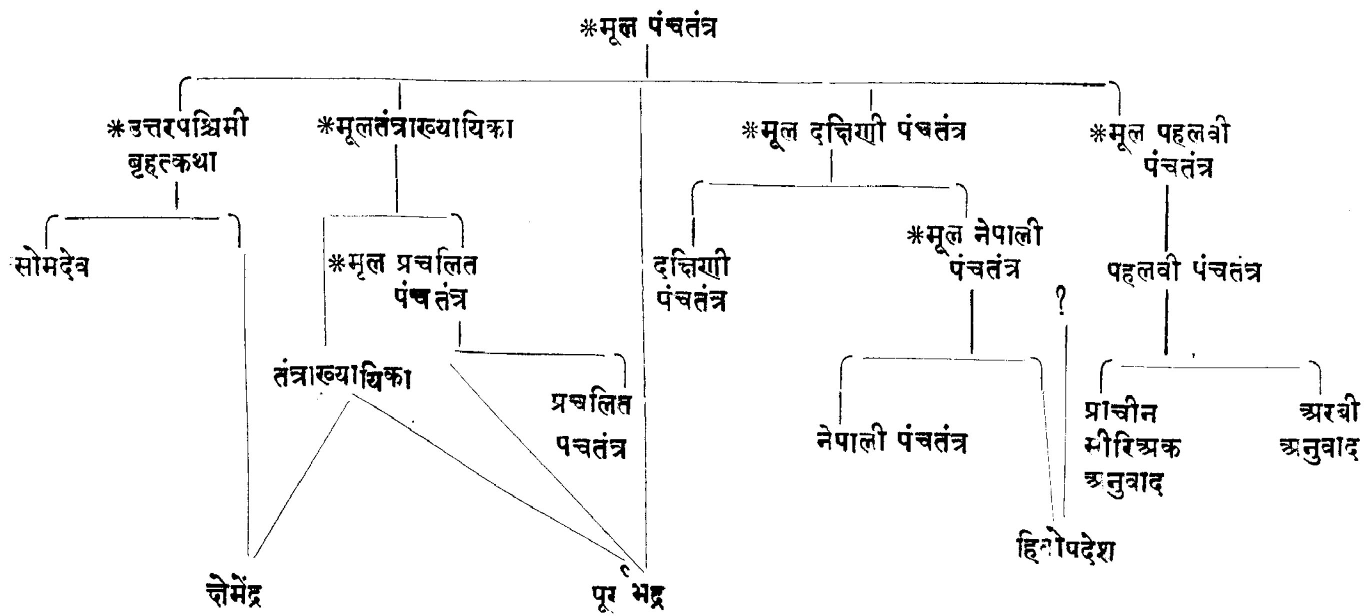

[नोट—यह चिह्न * काल्पनिक धाराओं का सूचक है ।

क्षेमेंद्र संकीर्ण है, क्योंकि इस में तंत्राख्यायिका की पुट स्पष्ट प्रतीत होती है। अतः जब इसके पाठ धारा नं० २ और ४ के पाठों से मिलते हैं तभी महत्त्वपूर्ण हैं; जब नं० १ से मिलते हैं तब नहीं। पूर्णभद्र का पंचतंत्र भी संकीर्ण है क्योंकि इस में पंचतंत्र की एक पांचवीं धारा से सहायता ली गई है जो अब स्वतंत्र रूप में अलभ्य है। इस अलभ्य धारा का अन्य धाराओं से इतना ही संबंध है कि इन सब का मूल-स्रोत एक है। इस धारा को हर्टेल[1] प्राकृतमयी मानता है क्योंकि पूर्णभद्र में कई स्थल ऐसे हैं जो तंत्राख्यायिका और प्रचलित पंचतंत्र से भिन्न हैं और इन स्थलों की भाषा पर प्राकृत का प्रभाव स्पष्ट है। प्राकृत-प्रभाव के उदाहरण – वणिजारक (पृ० ७३, पंक्ति १४); स्वपिमि लग्नः (१२२, १८); अरघट्टं खेटयमान (२२४, ३८) संप्रहार (१६६, २); चंद्रमती (१४८, ४); दंडपाशिक, दंडपाशक के स्थान पर (१४७, १२.१६; १५१,२-६) आदि आदि। हो सकता है कि हर्टेल का यह मत मान्य न हो और यह अलभ्य धारा जैन संस्कृत में हो। क्योंकि जैनों द्वारा प्रणीत संस्कृत ग्रंथों की भाषा (जैन संस्कृत) के अध्ययन ने सिद्ध कर दिया है कि इस में प्राकृत-प्रभाव आदि कई अपनी ही विशेषताएं हैं जो साधारण संस्कृत में नहीं हैं[2]। परंतु यह निश्चित है कि पूर्णभद्र का पंचतंत्र पंचतंत्र की पांचवीं धारा की सत्ता को प्रमाणित करता है और उस धारा के लिए इस का अपना महत्त्व है।

प्रतिएं हम तक किस परिस्थिति में पहुंची हैं।

किसी ग्रंथ के संपादन में उस की उपलब्ध प्रतिएं हम तक किस परिस्थिति में पहुंची हैं, उन की संख्या और विशेषताएं क्या हैं – इन सब बातों से भी संपादक के कार्य में अंतर पड़ जाता है। इन बातों के अनुसार निम्नलिखित परिस्थितियां उपस्थित होती हैं—

(१) जब किसी रचना की एक ही प्रति उपलब्ध हो।

(२) जब किसी रचना की समान पाठ-परम्परा वाली अनेक प्रतियां उपलब्ध हों।

(३) जब किसी रचना की भिन्न भिन्न पाठ-परम्परा की अनेक प्रतियां हों।

---

१. हर्टेल संपादित पूर्णभद्र का पंचतंत्र, भाग २, १४, १६-२० पृ०।

२. फ़ेस्टश्रीफ़्ट जेकब वाकरनागल में ब्लूमफ़ील्ड का लेख पृ० २२०–३०; हर्टेल—ऑन दि लिट्रेचर आफ़ दि श्वेतांबर जैनज़; लेखक द्वारा संपादित चित्रसेन-पद्मावतीचरित्र, भूमिका, पृ० २३–३०।

Aho ! Shrutgyanam

(१) एक प्रति—

जब संपादनीय कृति की केवल एक ही प्रति मिलती हो, तो संपादक का कर्तव्य है कि उस प्रति को ध्यान पूर्वक पढ़े और जहां तक संभव हो उस के शुद्ध रूप में ही उस के पाठों को उपस्थित करे। इस के लिए आवश्यक है कि वह उस का बार बार सूक्ष्म निरीक्षण करे, उस का पूरा पूरा परिचय प्राप्त करे। अधिकतर यह बात शिलालेखों और ताम्रपत्रों के विषय में लागू होती है। मध्य एशिया से बौद्ध पुस्तकों के जो अंश मिले हैं उन की प्राय: एक एक ही प्रति उपलब्ध हुई है। कई पुस्तकें भी एक ही प्रति के आधार पर हम तक पहुंची हैं, जैसे विश्वनाथ का कोशकल्पतरु, नान्यदेव का भारतभाष्य, पृथ्वीराजविजय आदि।

(२) समान पाठ-परम्परा की अनेक प्रतियां—

जब संपादनीय कृति की समान पाठ-परम्परा वाली अनेक प्रतियां विद्यमान हों, तो उन के पारस्परिक संबंध के परिज्ञान से पहले उन के आदर्शों और काल्पनिक मूलादर्श का पता लगाया जाता है।

(क) जब सब प्रतियों का मूलादर्श उपलब्ध हो तो संपादक का कार्य सरल हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में प्रतिलिपियों की उपेक्षा की जा सकती है। इस से संपादक को केवल एक मूलादर्श पर ही आश्रित होना पड़ता है। परंतु जहां प्रतिलिपि होने के पश्चात् मूलादर्श का कुछ भाग नष्ट भ्रष्ट हो चुका हो, तो हमें उस नष्ट भाग के लिए प्रतिलिपियों की सहायता लेनी पड़ेगी।

(ख) जब मूलादर्श विद्यमान न हो, परंतु उस की सत्ता के बाह्य प्रमाण मौजूद हों, तो पहले मूलादर्श का पुनर्निर्माण करना चाहिए। रायल एशियाटिक सोसायटी की बंबई ब्रांच की पृथ्वीराजरासो की प्रति नं B. D. २७४ के अवलोकन से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि इस का आदर्श अमुक प्रति थी क्योंकि इस में कई स्थानों पर समयों की अंतिम प्रशस्तियों को लिखा हुआ है जो कि इस के आदर्श में विद्यमान थीं।

(ग) जब किसी मूलादर्श के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले बाह्य प्रमाण तो विद्यमान न हों परंतु प्रतियों की पाठ-समानता से अनुमान हो सके कि यह सब एक ही मूलादर्श के आधार पर लिखित हैं तो इस प्रकार के मूलादर्श को **काल्पनिक या अनुमित मूलादर्श** कहते हैं। ऋगर्थदीपिका के संपादन में प्रयुक्त P, D, M व्यपदेश की तीनों प्रतियों में से कोई भी एक दूसरे की प्रतिलिपि नहीं और न ही कोई

Aho ! Shrutgyanam

बाह्य प्रमाण यह सिद्ध करता है कि वह सब एक ही मूलादर्श की प्रतियां हैं। उन के पाठों की समानता के कारण ही उन को एक काल्पनिक मूलादर्श के आधार पर लिखित माना है[1]।

(३) भिन्न पाठ-परम्परा की अनेक प्रतियां—

जब संपादनीय कृति की भिन्न भिन्न पाठ-परम्परा वाली अनेक प्रतियां उपलब्ध हों, तो उन के पाठभेद के कारणों का विवेचन भी करना चाहिए जो इस तरह हो सकता है—

(क) क्या पाठ-भेद स्वयं रचयिता द्वारा हुआ है? यदि रचयिता स्वयं अपनी मूल प्रति का शोधन करे तो उस प्रति में कहीं कहीं दो दो या अधिक पाठ हो जावेंगे। इन में से एक तो मूल पाठ में होगा और दूसरे शुद्ध पाठ हाशिए में या पंक्तियों के बीच लिखे होंगे। इस मूल प्रति से प्रतिलिपि करते समय एक लिपिकार एक पाठ को ले सकता है, तो दूसरा दूसरे पाठ को। इस प्रकार वह प्रतियां एक आदर्श की प्रतिलिपियां होते हुए भी भिन्न भिन्न पाठ-परम्परा को धारण करलेंगी। भवभूति[2] के विषय में भांडारकर और टोडरमल का मत है कि उस ने स्वयं मालती-माधव और महावीरचरित की मूल प्रतियों को शोधा है। इस कारण उपलब्ध प्रतियों में कहीं कहीं पाठ-भेद हो गए। मालतीमाधव के संपादन में भांडारकर ने ६ प्रतियों का प्रयोग किया है। यदि किसी पाठ विशेष के लिए इन प्रतियों के दो गण बनते हैं— K_1, K_2, N, O और A, B, Bh, C, D, तो किसी दूसरे पाठ के लिए इस प्रकार दो गण बन जाते हैं—A, B, C, D, K, N, और Bh, K_2, O।

उदाहरण—मालतीमाधव अंक १। पं०। १२—

कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमर्ते (A, B, D, K_1, N)

कल्याणानां त्वमिह महसां ईशिषे त्वं विधत्ते (Bh, K_2, O)

कल्याणानां त्वमसि महसां ईशिषे त्वं विधत्ते (C)

इस से ज्ञात होता है कि भिन्न भिन्न पाठों के लिए भिन्न भिन्न गण बन जाते हैं। इस का समाधान संकीर्ण संबंध के आधार पर हो सकता है, परंतु अधिक संभव यही है कि कवि ने स्वयं अपनी मूलप्रति का शोधन किया था क्योंकि समग्र ग्रंथ में प्रायः यही परिस्थिति देखने में आती है[3]। भवभूति द्वारा शोधित मूलप्रति से एक लिपिकार ने एक पाठ लिया तो दूसरे ने दूसरा और इस तरह पाठ भेद उत्पन्न हो गया।

---

१. डा० लक्ष्मण स्वरूप संपादित भाग १, पृ० ४०।

२. देखो ऊपर, अध्याय २, टिप्पण नं० ५ और ६।

३. भांडारकर संपादित मालतीमाधव, भूमिका, पृ० ६।

Aho ! Shrutgyanam

(ख) क्या पाठ-परम्परा में भेद स्थान-भेद से उत्पन्न हो गया है ? यह बात रामायण, महाभारत आदि बृहत्काय ग्रंथों के विषय में प्रायः सत्य होती है, विशेषतः जब वह ग्रंथ समष्टि-रचित हो। महाभारत की उत्तरी, दक्षिणी, काश्मीरी, नेवारी (नेपाली), बंगाली आदि धाराएं प्रसिद्ध हैं। टोडरमल[1] ने महावीरचरित, की दो शाखाएं मानी हैं—उत्तरी और दक्षिणी। वह उत्तरी शाखा को स्वयं भवभूति द्वारा शोधित मानता है, और दक्षिणी को शोधन से पूर्व रूप में जो केवल पहले पांच अंकों तक ही था। फिर भी दक्षिणी शाखा में कहीं कहीं बहुत अच्छे पाठ मिलते हैं। टोडरमल के मतानुसार इस का कारण यह था कि दक्षिणी विद्वानों ने भवभूति के मूल पाठ का संशोधन कर लिया था क्योंकि दक्षिण कुछ काल तक विद्वत्ता का भारी केंद्र रहा।

(ग) क्या पाठ-भेद का कारण रचयिता या अन्य व्यक्तियों द्वारा शोधन के अतिरिक्त कुछ और है ? कई बार मूलादर्श में अनेक पाठ स्थित होते हैं। जैसे किसी पाठक ने अपनी प्रति में आसानी के लिए शब्दार्थ और अन्य टिप्पण लिख लिए—इस तरह उस प्रति में एक पाठ के स्थान पर दो दो या तीन तीन पाठ मालूम पड़ेगें या दो दो समानार्थ शब्द इकट्ठे मिलेंगे, जिस से पुनरुक्ति हो जाएगी। यदि यह प्रति प्रतिलिपियों के लिए आदर्श बने तो पाठ-भेद का कारण बन जाएगी।

(घ) लोप, प्रक्षेप, संक्षेप, परिवर्तन आदि से भी किसी रचना की पाठ-परम्पराओं में भेद पड़ सकता है।

चौथा अध्याय

प्रतियों में दोष और उन के कारण

संपादनीय कृति के संबंध में उपलब्ध सामग्री के सूक्ष्म अवलोकन और मिलान से प्रायः इस बात का परिज्ञान प्राप्त होता है कि कौन कौन सी सामग्री लिपिकाल तथा अन्य विशेषताओं के कारण विश्वसनीय है। इसके आधार पर प्राचीनतम पाठ का पुनर्निर्माण किया जासकता है। यह पुनर्निर्मित पाठ रचयिता की मौलिक कृति के काफ़ी निकट होता है। इसमें कुछ पाठ ऐसे रह जाते हैं जो अपने मौलिक रूप में नहीं होते। इन पाठों की संख्या रचना विशेष के विषय, भाषा आदि और उस की प्रतियों के इतिहास के अनुसार न्यूनाधिक होती है। इन को साधारणतया 'दूषित पाठ'

---

१. महावीर चरित, भूमिका पृ० ६।

Aho ! Shrutgyanam

करते हैं। संपादित पाठ में दूषित पाठों का समावेश करने से पहले हमें यह सोचना चाहिए कि किसी प्रकार इन को शुद्ध किया या सुधारा भी जा सकता है। इस बात के लिए आवश्यक है कि उपलब्ध प्रतियों के दोषों और उन को पैदा करने वाले कारणों का निर्णय हो।

बाह्य दोष—

कुछ दोष ऐसे होते हैं जिन का संबंध प्रति के बाह्य रूप आदि से होता है[1]। प्रति के सतत प्रयोग से और नमी आदि के प्रभाव से प्रति की लिपि मद्धम पड़ जाती है और कई स्थलों में बिलकुल मिट जाती है। यदि प्रति पुस्तक रूप में है और ताड़पत्र, भोजपत्र, कागज़ आदि पर लिखित है, तो इस के पत्रों के किनारे त्रुटित हो सकते हैं। अतः पत्रे की पंक्तियो के आदिम और अंतिम भाग नष्ट हो जाते हैं। यदि प्रति के पत्रे खुले हों तो इन में से कुछ गुम हो सकते हैं और कुछ उलट पुलट हो सकते हैं। शिलालेख भी ऋतुओं के विरोधी आघातों को सहते सहते घिस जाते हैं। जब इस तरह काफ़ी पाठ नष्ट हो चुका हो तो संपादक के पास इस के पुनर्निर्माण का कोई साधन नहीं। परंतु यदि इस के संबंध में सहायक सामग्री उपलब्ध हो तो इस का पुनर्निर्माण भी किया जा सकता है। प्रायः छोटी छोटी त्रुटियों को तो संपादक स्वयं ही ठीक कर लेता है।

आंतरिक दोष—

कुछ दोष उपलब्ध पाठ में ही उपस्थित होते हैं। इन दोषों का मुख्य कारण लिपिकार होता है; परंतु कहीं कहीं शोधक भी होता है। इन दोषों को जानने के लिए हमें चाहिए कि किसी विशेष देश, काल, लिपि, विषय आदि की उन प्रतियों का सूक्ष्म अवलोकन करें जिन के आदर्श भी विद्यमान हों और इन के आधार पर साधारण दोषों का विवेचन करें। इस से समान देश, काल, लिपि, विषय आदि की प्रतियों के दोषों का समाधान ठीक रीति से हो सकेगा।

---

१. देखो—एयस्स य कुलिहियदोसो न दायव्वो सुयहरेहिं। किंतु जो चेव एयस्स पुव्वायरिसो आसि तत्थेव कत्थइ सिलोगो कत्थइ सिलोगद्धं कत्थइ पयक्खरं कत्थइ अक्खरपंतिया कत्थइ पन्नगपुट्ठिय (या) कत्थइ बे तिन्नि पन्नगाणि एवमाइ बहुगंथं परिगलियं ति। महानिशीथसूत्र के एक हस्त लेख से—डिस्क्रिप्टिव कैटॅलॉग आफ़ दि गवर्मेंट कोलेक्शनज़ आफ़ मैनुस्क्रिप्ट्स डिपोज़िटेड एट दि भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, भाग १७, २, पृ० ३२।

इन दोषों के कई भेद हैं—

(१) लिपि भ्रम—

प्रायः हर लिपि में कुछ वर्ण और अक्षर ऐसे होते हैं, जिनकी आकृति में भेद बहुत कमहोता है। ऐसे समान वर्णों या अक्षरों को लिखते समय लिपिकार एक के स्थान पर दूसरे को लिख सकता है। आदर्श में यदि एक वर्ण या अक्षर हो तो लिपिकार उसके स्थान पर उसके समान आकृति वाले वर्ण अथवा अक्षर को समझ कर दूसरे को लिख सकता है। किसी लिपि में कौन कौन से वर्ण या अक्षर समान आकृति वाले हैं, इस बात का ज्ञान लिपि विज्ञान के क्षेत्र में सम्मिलित है। परंतु यहां पर इस के कुछ उदाहरण देते हैं—

उदाहरण—देवनागरी में प, य; घ, ध; ख, रव; भ, म आदि का विपर्यय हो सकता है। जैसे तुलसी-रामायण[1] १। २८। ३ 'भोरि' 'मोरि'। जैनों द्वारा प्रयुक्त देवनागरी में इन अक्षरों में समानता है—त्र व और च; त्थ और च्छ; थ और घ; ब्भ और ज्म; द्ध, द्द, द्व, और द्ध।

टोडरमल संपादित महावीर चरित—

स्थ, च्छ—'स्वस्थाय' (१, १) के स्थान E प्रति में 'स्वच्छाय'।

ओ, आ—'महादोसो' (२, १३। १४)[2] के स्थान पर B_0 प्रति में 'महादासो'

प, य—'वाक्यनिष्पंद' (१, ४) के स्थान पर E, K, B_0 प्रतियों में '०निष्यद'।

ण, प—'कल्पापाय' (३, ४०) के स्थान पर Md, Mt, My प्रतियों में कल्याणाय।

प्रस्तुत लिपि और भाषा का यथोचित ज्ञान न होने से भी लिपिकार अशुद्धियां कर सकता है, जैसे पंचतंत्र[3] की Bh प्रति में 'भो बिला ३।' (२१८, १२, १३) के स्थान पर 'भो विल भो बिल भो बिल' मिलता है। इस प्रति के लिपिकार को इस बात का ज्ञान न होगा कि यहां '३' स्वर के प्लुतत्व का निर्देश करता है और यहां

---

१. तुलसी-रामायण के उदाहरण नागरी प्रचारिणी पत्रिका ४७, १ के आधार पर हैं।

२. नाटक के गद्य भाग का संकेत उसके पूर्वापर श्लोकों की संख्या से किया है, जैसे २, १३। १४ का अर्थ है दूसरा अंक १३ और १४ श्लोकों के बीच का गद्य भाग।

३. हर्टल संपादित पूर्णभद्र का पंचतंत्र।

Aho ! Shrutgyanam

पर इस वाक्य में प्लुति का प्रयोग 'दूराद्धूते च' (पाणिनि ८, २, ८४) के अनुसार दूर से बुलाने के लिए हुआ है। इस प्रति के आदर्श में ' भो बिल ३ ' पाठ होगा जिस के स्थान पर 'भो बिल भो बिल भो बिल' लिख देना कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि ' २ ', प्रायः दुहराने के लिए आता ही है, जैसे ' भो २ ' = 'भो भो ' ।

जब कोई प्रति एक लिपि के आदर्श पर से किसी अन्य लिपि में लिखी गई हो, और आदर्श की लिपि में प्रतिलिपि की लिपि के अक्षरों से मिलते जुलते परंतु भिन्न उच्चारण वाले अक्षर हों, तो इस प्रति में ऐसे समान अक्षरों का उलट फेर काफ़ी हो सकता है।

उदाहरण—महाभारत आदिपर्व के शारदा आदर्श S′ से देवनागरी में लिपिकृत K_1 प्रति में यह दोष प्रायः दृष्टिगोचर होता है क्योंकि शारदा और देवनागरी लिपियों के कुछ अक्षरों में बहुत समानता है। जैसे—स,म (शा० संकुले 7 ना० मंकुले) ;त, उ और थ ष (शा० तथा Z_1 ना० उषा) ; ऋ, द (शा० ऋष्या 7 ना० दृष्या) ; म, श (शा० प्रकामं 7 ना० प्रकाशं); च, श (शा० पांचालीं 7 ना० पांशालीं); र्त, तु (शा० आर्तस्वरं 7 ना० आतु०) ; त्त, तु (शा० सत्तमः 7 ना० सतुमः) आदि ।[1]

इसी प्रकार जैन देवनागरी के आदर्श से प्रचलित देवनागरी में लिखते समय भ के स्थान पर त, क्ख के स्थान पर रक आदि हो जाते हैं।

इस सरणी का अनुसरण करते हुए किसी लिपि के समान आकृति वाले अक्षरों को, और भिन्न भिन्न लिपियों के परस्पर समान अक्षरों की विस्तृत सूचियां तय्यार की जा सकती हैं।

(२) शब्द-भ्रम

यदि किसी भाषा में कुछ शब्द ऐसे हों जो परस्पर मिलते जुलते हों परंतु जिन के अर्थ में भेद हो, तो लिपिकार ऐसे शब्दों में हेर फेर कर सकता है।

उदाहरण—तुलसी रामायण (१ । २६१ । ७) 'बरासुर' (=बाणासुर), २, ४, ६, ७, ८ प्रतियों में 'सुरासुर'।

(३) लोप

लोप के मुख्यतया दो कारण होते हैं—

(क) लिपिकार की असावधानता और लेख प्रमाद—इस कारण से तो किसी भी अक्षर, मात्रा, शब्दांश, शब्द, वाक्य, श्लोक, पृष्ठ आदि का लोप हो सकता है।

---

१. भूमिका पृ० ११ ।

Aho ! Shrutgyanam

उदाहरण—महावीरचरित २ ६ । १० अभिचरंति, E प्रति में अचरंति है ; (२, १३ । १४) महादोसो, B_0 प्रति में महादासो है । चित्रसेनपद्मावती-चरित्र[1] (५४८) 'संजमंमि य रारियं' Z में 'य' का लोप है । इसी को Z प्रति में श्लो० ३८३ छूट गया है ।

(ख) अक्षर, शब्द आदि की समानता से—

अक्षर-समानता के कारण दो समान अक्षरों में से एक छूट जाता है ।

उदाहरण—महाभारत आदि (१०३, १३) 'अभ्यसूययाम्', K $D_n D_{1-5}$ में 'अभ्यसूयाम्' है । महावीरचरित (२, ७ । ८) 'लोललोअणो', I_2 में 'लोलअणो' ; (३, १८ । १९) पाखण्डकाण्डीर, B_0 में पाखण्डीर ; (३, १६ । २०) प्रसवपांसन, E में प्रसवासन ।

शब्द-समानता के कारण लिपिकार की आंख किसी शब्द से उस के समान-रूप वाले अन्य शब्द पर जा टिकती है जो उस से परे हो । इस से बीच के शब्द छूट जाते हैं । यह साधारण दोष है ।

उदाहरण—निरुक्त[2] में 'सोऽदेवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वम् । असोरसुरान-सृजत तदसुराणाम्........' को लिखते समय C_3 प्रति के लिपिकार की आंख प्रथम असृजत से आगे वाले असृजत पर पहुंच गई । परिणाम-स्वरूप 'तत्सुराणां सुरत्वम् । असोर-सुरान्' छूट गया । (६, २२) स्थूरं राधः शताश्वं कुरंगस्य दिविष्टिषु । (RV. VIII. 4. 19) स्थूरः समाश्रितमात्रो महान्भवति' को लिखते समय C_3 प्रति के लिपिकार की दृष्टि 'स्थूरं' से तत्समान 'स्थूरः' पर जा पड़ी और मध्यस्थित 'राधः शताश्वं कुरंगस्य दिविष्टिषु' का लोप हो गया ।

(४) आगम

मात्रा, अक्षर, शब्द आदि के बढ़ जाने को आगम कहते हैं ।

उदाहरण—महावीर चरित (१, २) 'महापुरुषसंरम्भो' B_0 में 'महापुरुष-समारम्भो' है ।

(५) अभ्यास—

किसी अक्षर, शब्दांश, शब्द वाक्य आदि के दुहराए जाने को अभ्यास कहते हैं ।

---

१. लेखक द्वारा संपादित ।

२. डा० लक्ष्मण स्वरूप संपादित । भूमिका पृ० ४० ।

Aho ! Shrutgyanam

उदाहरण—महाभारत आदि० (५७, २१) 'हास्यरूपेण' K, प्रति में हाम्य हाम्य रूपेण (हास्य हास्य रूपेण) का अशुद्ध रूप है।

निरुक्त २, २८ उतस्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि। क्रतुं दधिक्रा...........' को लिखते समय CS प्रति के लिपिकार की दृष्टि 'क्रतुं लिखने के पश्चात् फिर 'वाजो पर' चली गई और वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो दुबारा लिखा गया। निरुक्त ६, ८ 'गृह्णाति कर्मा वा' Mi में दुहराया गया है।

(६) व्यत्यय—

अक्षर, शब्द आदि के परस्पर उलट फेर को व्यत्यय कहते हैं।

उदाहरण—महावीर चरित ३,३७ 'ज्ञानेन चान्यो,' Mt, Md में 'ज्ञाने च नान्यो'। (१,१३।१४) 'मैथिलस्य राजर्षेः', $T_1 \times T_2$ में 'राजर्षे मैथिलस्य'। किलान्यत,T_1 अन्यत् किल। ३, १८। १६ Mt 'अरे रे अनड्वन पुरुषाधम', Mg रे पुरुषाधम अनडवन्।

महाभारत आदि० (१, २३) उत्तरी शाखा में 'महर्षेः पूजितस्येह सर्व लोके महात्मनः' =दक्षिणी शाखा में 'महर्षेः सर्वलोकेषु पूजितस्य महात्मनः'। (६२,१) उत्तरी० 'ततः प्रतीपो राजा स' =द० 'प्रतीपस्तु ततो राजा'।

इसी प्रकार पंक्तियों का व्यत्यय भी हो सकता है। इस दोष की उत्पत्ति प्रायः ऐसे होती है कि लिखते समय किसी लिपिकार से कुछ पंक्तियां छूट गई। अपने लेख में कांट-छांट से बचने के लिए लुप्त पाठ को पन्ने पर अन्यत्र लिख दिया। इस प्रति को आदर्श मान कर लिखने वाला इस पाठ को उचित स्थान पर न रख कर अशुद्ध स्थान पर लिख सकता है। इस से उस प्रति को आदर्शभूत मानने वाली प्रतिलिपियों में सदा के लिए पंक्तिव्यत्यय हो जाएगा।

उदाहरण—कर्पूरमंजरी[१] प्रथम अंक, T प्रति में दूसरे और चौथे श्लोकों का व्यत्यय है।

(७) समानार्थशब्दांतरन्यास—

किसी शब्द अथवा शब्द-समूह के स्थान पर समान अर्थ वाले किसी अन्य शब्द अथवा शब्द-समूह के लिखे जाने को समानार्थशब्दांतरन्यास कहते हैं।

---

१. स्टेन कोनो संपादित, पृ० १।

Aho ! Shrutgyanam

उदाहरण—पंचतंत्र (१, ४) 'महिलारोप्यं नाम नगरम्', A प्रति में 'प्रमदारोप्यं नाम नगरम्' । महाभारत आदि पर्व[1] में रोष, कोप, क्रोध; ऋषि, मुनि; द्विज, विप्र; नरेश्वर, नरोत्तम, नराधिप, नरर्षभ; उवाच तदनंतरं, पुनरेवाभ्यभाषत; निःश्वसंतं यथा नागं, श्वसंतमिव पन्नगम् इत्यादि का व्यत्यय ।

इसी प्रकार विपरीतार्थशब्दांतरन्यास भी हो सकता है ।

(८) हाशिए के शब्दों, टिप्पणों आदि का मूलपाठ में समावेश—

पढ़ते समय पाठक या शोधक अपनी प्रति के हाशिए में टिप्पण, अवतरण आदि लिख लेते थे । ऐसी प्रति को आदर्श मानकर लिखने वाला इनको भी मूलपाठ का अंग समझ कर पुस्तक में ही लिख सकता है ।

उदाहरण—संदेशरासक की प्रति (नं० १८९१—९२ पूना की भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट) में कुछ छन्दों की परिभाषाएं मूल पाठ में ही लिखी हैं। हरिषेण विरचित धम्मपरिक्खा की अम्बाले वाली प्रति[2] में शब्दार्थों को मूल पाठ में मिला दिया है जो इस रचना की अन्य प्रतियों में नहीं हैं । संभव है यह हाशिए आदि से ही मूल पंक्ति में आए हों ।

(९) वाक्य के अन्य शब्दों के प्रभाव से किसी शब्द के रूप में परिवर्तन हो जाता है ।

उदाहरण—महाभारत आदि० (९६, ८) 'आहूय दानं कन्यानां गुणवद्भ्यः स्मृतं बुधैः ।' T, प्रति में 'बुधैः' के प्रभाव से 'गुणवद्भिः' है । रामायण[3] (१, १२, ८) 'त्वं गतिर्हि मतो मम', As में 'हि मतिर्मम' । (१, १६, २) 'वृतः शतसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम्', A_7 (K_8) में 'सहस्रैश्च' पाठ है, जो 'वानराणां' के बहुवचन के प्रभाव से विकृत हुआ है ।

(१०) विचार-विभ्रम से—

अपने सामने के लेख्य पाठ को देख कर लिपिकार को कोई अन्य बात सूझ जाती है और वह लेख्य पाठ को भूल कर अपने विचारों को लिख देता है ।

उदाहरण—निरुक्त (२, २६) 'देवोऽनयत्सविता । सुपाणिः कल्याणपाणिः ।

१—भूमिका पृ० ३७ ।

२—इसके परिचय के लिए देखो 'जैन विद्या' अंक २, पृ० ५५-६२ [हिंदी]

३—रामायण के उदाहरण कात्रे से उद्धृत किए हैं ।

पाणिः पद्मायतेः पूजाकर्मणः। प्रगृह्य पाणी देवान्पूजयन्ति। तस्य वयं प्रसवे याम उर्वोः।' 'देवोऽनयत्सविता' ऋग्वेद (१, ३३, ६) का प्रथम पाद है। C_4 के लिपिकार को उत्तरपाद याद था अतः उसने प्रथम पाद को लिखकर उत्तरपाद को ही लिख डाला। परिणाम स्वरूप C_4 प्रति में 'कल्याणपाणि.....पूजयन्ति' लुप्त हो गया।

महाभारत उद्योग (१२७, २६) 'वश्येन्द्रियं जितात्मयम्' पाठ है। (१२७, २२) के 'विजितात्मा' और (१२७, २७) के 'अजितात्मा' की स्मृति से K, D, T, $G_{1\ 3\ 4}$ प्रतियों में 'वश्येन्द्रियं जितात्मानम्' पाठ हो गया।

(११) ध्वनि अथवा उच्चारण से—

पृथ्वीराज रासो की कई प्रतियों में अनुनासिकता का प्रयोग बहुत मिलता है जैसे नांम, रांम ... ... यह इस लिए हो सकता है कि इन प्रतियों के लिपिकार की ध्वनि में अनुनासिकता होगी। इसी प्रकार कई प्रतियों में 'व', 'ब' का भेद बहुत कम होता है - कई प्रतियों में केवल 'व' मिलता है और कई में केवल 'ब'। बंगाली में 'व' नहीं इसलिए बंगालियों द्वारा लिखित संस्कृत भाषा में भी 'ब' का प्रयोग होता है, 'ज्ञ' का उच्चारण कई प्रदेशों में 'ग्य' के समान है, अतः कई प्रतियों में इसके स्थान पर 'ग्य' मिलता है जैसे—तुलसी रामायण (१, १७) ज्ञान, प्रति नं० १, २, ३ में ग्यान है।

(१२) भाषा की अनियमितता से—

प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी आदि भाषाएं इतनी नियमित नहीं हैं जितनी संस्कृत। अतः इन की प्रतियों में वर्ण विन्यास समान रूप से नहीं मिलता—अर्थात् एक ही शब्द भिन्न भिन्न प्रकार से लिखा जाता है।

उदाहरण—तुलसी रामायण (१। २२०। १) यहु, यह, येह; (१। २२८। १) दुइ, दोउ; (२। ५०) दूसर, दूसरि; (२। ११५। १) सुना एउ, सुनायेहु, सुनायेउ।

(१३) भाषा-व्यत्यय—

हिन्दी भाषा की प्रतियों में मूल में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों का प्रांतीय तथा तद्भव रूप मिलता है।

उदाहरण—तुलसी रामायण (१। १०, 'ग्राम्य', ४, ५ में 'ग्राम'; (३।१०।१०) 'कमारी,' ७ में 'कुँआरी'; आदि।

Aho ! Shrutgyanam

इसी प्रकार तद्भव तथा प्रांतीय शब्दों के स्थान पर संस्कृत रूप मिलते हैं।

उदाहरण—तुलसी रामायण (३ । ३२ । ५) 'सत' १, २, ३, ६ में 'सत्य'; (५ । ५४) विकटासि, ४ में विकटास्य आदि।

(१४) परिवर्तन

(क) जहां संधि संभव हो परंतु मूलपाठ में न हो, या जहां संधि संभव न हो परंतु आभास ऐसा हो कि संधि हो सकती है, वहां संस्कृत पुस्तकों की प्रतियों में प्रायः च, हि, अपि आदि पूरकों के प्रयोग से संधि की प्राप्ति का अभाव किया मिलता है।

उदाहरण—महाभारत आदि० (२,१५०) 'यत्र राज्ञा उलूकस्य', K4 V1 B D (B4 D12 के अतिरिक्त) प्रतियों में 'यत्र राज्ञा ह्युलूकस्य'। (२, २१२) 'तत आश्रम वासाख्यं', कई प्रतियों में 'ततश्चाश्रम०','ततश्चाश्रमवासश्च', पाठ हैं। महाभारत उद्योग० (३०, ६) उत्तरी धारा 'आचार्याश्च ऋत्विजो' —दक्षिणी धारा 'आचार्याश्चाप्यृत्विजो'; (३३, ३५) उ० 'अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो' —द० 'अनाहूतः संप्रविशेदपृष्टो'; (८६,६) द० 'मधुपर्कं च उपहृत्य' उ० 'मधुपर्कं चाप्युदकं च'; (१३६, ३६) उ० 'कृष्ण अस्मिन्यज्ञे' —द० 'कृष्ण तस्मिन्यज्ञे'।

(ख) व्याकरण आदि के अशुद्ध प्रयोगों को सुधारना।

उदाहरण—महाभारत आदि—(१, १६०) 'ये च वर्तन्ति'—पाठांतर 'वर्तन्ते ये च', 'ये वर्तन्ते च'; (२, ६३) 'हरणं गृह्य संप्राप्ते'—पाठांतर 'गृहीत्वा हरणं प्राप्ते', 'दत्त्वा चाहरणं तस्मै'; (७, २६) 'पुलोमस्य'—पाठांतर 'पुलोम्नस्तु', 'पुलोम्नश्च', 'पुलोम्नोथ'।

महाभारत उद्योग० (८६, १६) उ० 'व्यथितो विमनाभवत्'—द० 'विमना व्यथितोभवत्'; (३८, ८) 'अपकृत्वा'—'अपकृत्य'।

(ग) आर्ष, असाधारण अथवा कठिन प्रयोगों का दूर करना।

उदाहरण – महाभारत उद्योग० (१४, ३८) उ० 'अपाचीनानि'—द० 'अपनीतानि'; (७, २८) उ० 'कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा युद्धान् मेने जितं जयम्'——— द० 'कृष्णं चापि महाबाहुमामन्त्र्य भरतर्षभ'।

तुलसी रामायण (१ । ३४४ । ३) 'तनु धरि धरि दसरथ गृह छाए'—३-८ में '...आए'; (३ । २१ । ५) 'मन डोला'—४, ५ 'मति डोली'; (७ । ७५) अति सैसव—६ 'अति सै सब'; ४, ५ 'अतिसय सब'; ७ 'अतिशय सुखद'; (७ । ८६।७) 'अखिल बिस्व यह मोर उपाया—६ में 'अखिल बिस्व यह मम उपजाया'।

Aho ! Shrutgyanam

(घ) छंदोभंग को दूर करना।

उदाहरण—महाभारत उद्योग० (२०, २०) 'विनतां विषण्णवदनां'—पाठांतर 'विषण्णरूपां विनतां', 'विनतां दीनवदनां', विषण्णवदनां कद्रूः ; (६२, ४) 'करवाणि किं ते कल्याणि'—'किं ते करोमि कल्याणि', 'किं ते कल्याणि करवै', 'करवाणि किमद्याह'।

महाभारत उद्योग० (७, १३) द० 'मया तु दृष्टः प्रथमं कुन्तीपुत्रो धनंजयः'—

उ० 'दृष्टस्तु प्रथमं राजन्मया पार्थो धनंजयः' उ० 'अभिवादयन्ति वृद्धांश्च ;— द० 'अभिवादयते वृद्धान्' ; द० 'दयितोऽसि राजन्कृष्णस्य—उ० प्रियोऽसि......'।

(१९). प्रक्षेप—

किसी रचना में जान बूझ कर पाठ पढ़ाने को प्रक्षेप कहते हैं। शब्द, वाक्य और श्लोक के प्रक्षेप से लेकर बड़े अवतरणों और सर्गों तक का प्रक्षेप दृष्टिगोचर होता है। इसका कारण प्रायः करके शोधक या पाठक होता है।

(क) किसी वस्तु की संख्या सूची में आधिक्य।

उदाहरण—निरुक्त (२, ६) B धारा में 'वृक्षो व्रश्चनात्। नियतामीमयत् ... ...'है। A धारा में 'वृक्षो व्रश्चनात्। वृत्वा क्षां तिष्ठतीतिवा। क्षा क्षियतेर्निवास-कर्मणः। नियतामीमयत् ... ...' है।

(२, १३) B धारा में 'सूर्यमादितेयमेवम्' है।

A धारा में 'सूर्यमादितेयमदितेः पुत्रमेवम्' है।

महाभारत आदि० अध्याय ६४ में दक्षिणधारा में विद्याओं की सूची लम्बी कर दी है—

*५८६ 'शब्दच्छन्दोनिरुक्तज्ञैः कालज्ञानविशारदैः।
द्रव्यकर्मगुणज्ञैश्च कार्यकारणवेदिभिः॥
जल्पवादवितण्डज्ञैर्व्यासग्रन्थसमाश्रितैः।
नानाशास्त्रेषु मुख्यैश्च शुश्राव स्वनमीरितम्॥'

(ख) किसी विशेष दृश्य आदि के प्रस्तुत वर्णन को विस्तृत करना।

उदाहरण—पृथ्वीराजरासो की कई प्रतियों में युद्ध, विवाह आदि का वर्णन अन्य कई प्रतियों की अपेक्षा अधिक विस्तृत है।

महाभारत आदि०, परिशिष्ट १, ७८ में युद्ध-वर्णन को विस्तृत किया है—उ० में २ पंक्तियां, द० में ११६ पंक्तियां हैं।

Aho ! Shrutgyanam

(ग) आख्यान, युद्ध, विवाह आदि को कई बार वर्णन करना।

उदाहरण—महाभारत आदि० द० में कृष्णा और धृष्टद्युम्न के जन्म का अद्भुत वृत्तांत अध्याय १५५ और परिशिष्ट १,७६ में दुहराया है।

पृथ्वीराज रासो की कई प्रतियों में पृथ्वीराज के युद्धों, विवाहों, आखेटों आदि का वर्णन बार बार किया हैं, परंतु अन्य प्रतियों में यह वर्णन इतनी बार नहीं आते।

(घ) उचित स्थान पर सदुक्ति का प्रयोग करना। महाभारत आदि० की दक्षिणी धारा में निम्नलिखित श्लोक हैं जो उत्तरी धारा में नहीं हैं—

५६५* अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते।
स पापेनावृतो मूर्खस्तेन आत्मापहारकः।

६०५* पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।

११८६* पुत्रं वा किल पौत्रं वा कासांचिद् भ्रातरं तथा।
रहसीह नरं दृष्ट्वा योनिरुत्क्लिद्यते ततः। आदि।

(ङ) सैद्धांतिक अवतरणों का डालना।

उदाहरण—रामानुज[1] आम्नाय में प्रचलित रामायण (R_1) में ५, २७, २०-३२ मिलता है जो अन्यत्र नहीं मिलता।

(च) आदर्श के त्रुटित अंशों को पूरा करने के निमित्त।

उदाहरण—बुद्धचरित की प्राचीन प्रति त्रुटित थी। इस से प्रतिलिपि करते समय अमृतानंद ने त्रुटित अंशों को आप पूरा कर दिया[2]।

(छ) पूर्वापर विरोध को दूर करने के लिए।

उदाहरण—महाभारत आदि० (परिशिष्ट १,८०)=बम्बई संस्करण अ० १३९ में युधिष्ठिर की युवराजपद पर नियुक्ति और अर्जुन का अपने गुरु से युद्ध करने का प्रायश्चित्त प्रक्षेप हैं।

(ज) नाटकों को रंगमंच पर खेलते समय नट नटी अपनी परिस्थिति के अनुकूल कुछ न कुछ परिवर्तन कर लेते थे। संभव है कि इसी कारण से कालिदास के शाकुंतल के कई पाठ भेद हो गए हों।

---

१. कात्रे पृ० ६२।

२. जानस्टन संपादित बुद्ध-चरित, भाग १, भूमिका पृ० ८।

Aho ! Shrutgyanam

पाचवां अध्याय

पुनर्निमाण

उपलब्ध मूल और सहायक सामग्री के निरीक्षण और विवेचन से हम काल्पनिक मूलादर्श के पाठ का अनुमान कर सकते हैं। यही प्राचीनतम पाठ है जिस तक हम पहुंच सकते हैं। इस प्राचीनतम पाठ के स्वरूप को मालूम करना उस का **पुनर्निर्माण** कहलाता है। इस पुनर्निर्मित पाठ और रचयिता के मौलिक पाठ के बीच कई प्रतिलिपियों का अंतर हो सकता है जो अब विलुप्त हो चुकी हों। इन प्रतियों के लिपिकारों ने भी मौलिक पाठ में अवश्य विकार उत्पन्न किया होगा। इस लिए यह आवश्यक नहीं कि यह पाठ मौलिक पाठ से मिलता जुलता हो। प्राय: करके यह पाठ किसी भी उपलब्ध प्रति के पाठ से थोड़ा बहुत भिन्न होगा। हम निश्चित रूप से यह भी नहीं कह सकते कि यह पाठ सब से उत्तम है। परंतु यह उपलब्ध प्रतियों के पाठों से प्राचीन होगा क्योंकि यही तो इन सब का आधारभूत है। इस में लिपिकार की अशुद्धियों का और अप्रामाणिक शोधन का इतना स्थान नहीं, जितना कि उपलब्ध प्रतियों में होता है। पुनर्निर्मित पाठ और मौलिक पाठ के बीच इतने लिपिकारों और शोधकों का हस्तक्षेप नहीं जितनों का उपलब्ध प्रतियों के पाठ और मौलिक पाठ के बीच होता है क्योंकि काल्पनिक मूलादर्श या इस पुनर्निर्मित पाठ से उपलब्ध प्रतियों तक पाठ कई लिपिकारों तथा शोधकों के हाथ से गुजर कर आता है। इन्हों ने प्रस्तुत पाठ पर अपनी छाप छोड़ी होती है। इन के अस्तित्व का ज्ञान प्रतियों के निरीक्षण से प्राप्त हो जाता है। अत: यह पाठ उपलब्ध प्रतियों के पाठों से अधिक शुद्ध होगा और मौलिक के अधिक निकट होगा।

पुनर्निर्माण की विधि—

काल्पनिक मूलादर्श के पुनर्निर्माण की विधि निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी।

एक संपादनीय ग्रंथ की आठ प्रतियां उपलब्ध हुईं—क ख ग घ ङ च छ ज। इन के पाठों के विवेचन और मिलान से पता चला कि इन में से क ख ग घ ङ प्रतियों का एक गण बनता है और च छ ज का दूसरा गण। अर्थात् क ख ग घ ङ काल्पनिक आदर्श "य" के आधार पर लिखित हैं और शेष "र" के। इन के निरीक्षण से पता लगा कि "य" गण के तीन उपगण हो सकते हैं—क ख, ग घ,

Aho ! Shrutgyanam

और ङ । ङ अकेला है । क ख का काल्पनिक आदर्श " ल " है और इन में से भी ख क की प्रतिलिपि है । और ग घ का काल्पनिक आदर्श "व" है । इन सब प्रतियों का मूल स्रोत काल्पनिक मूलादर्श " श " है। इन प्रतियों के परस्पर संबंध का चित्र इस प्रकार बनता है ।

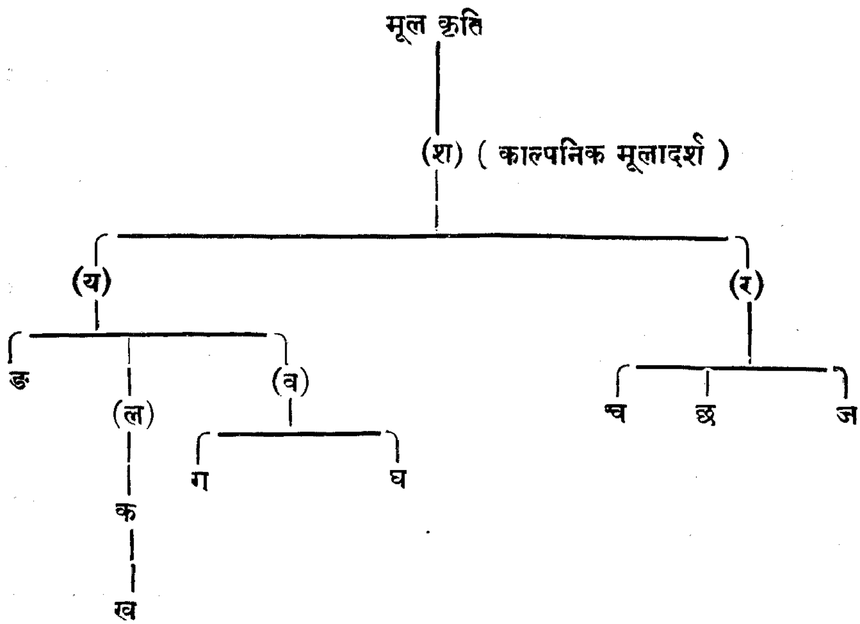

इस उदाहरण में सब प्रतियों को असंकीर्ण माना है। यदि यह निश्चित है कि ख क की प्रतिलिपि है, तो पाठ-पुनर्निर्माण में इस की उपेक्षा हो सकती है। इस का प्रयोग केवल उन स्थलों में किया जाएगा जहां ख के लिपिकृत होने के बाद क त्रुटित हो गया हो। अतः अब क ग घ ङ च छ ज (और उचित स्थल पर ख) प्रतियों के आधार पर काल्पनिक मूलादर्श "श" का पुनर्निर्माण करना है।

(१) जो पाठ सब प्रतियों में समान रूप से विद्यमान है, वही "श" का पाठ है। यह संपादन का मूल सिद्धांत है कि सब प्रतियों का समान पाठ मौलिक पाठ है।

(२) यदि "य" गण में एक पाठ है और "र" गण में दूसरा, तो हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि "श" का पाठ कौन सा था। यह दोनों पाठ मौलिक हो सकते हैं। हम किसी पाठ को केवल इस लिए मौलिक नहीं मान सकते कि उस पाठ को धारण करने वाली प्रतियों की संख्या न धारण करने वाली प्रतियों से अधिक है, और न ही इस लिए कि "य" गण के उपगणों में वह पाठ समान रूप से मिलता है।

Aho ! Shrutgyanam

'प्रतियों की संख्या नहीं देखी जाती, उन की विश्वसनीयता की जांच की जाती है'—यह संपादन का अन्य मूल सिद्धांत है ।

उदाहरण—मालतीमाधव के संस्करण में भांडारकर ने अंक ३ श्लोक ७ के पूर्वपाद का पाठ N प्रति के आधार पर 'स्खलयति वचनं ते स्रसयत्यंगमंगम्' माना है । शेष आठ प्रतियों में समान पाठ था 'स्खलयति वचनं ते संश्रयत्यंगमंगम्' । इस का कारण है कि N प्रति का पाठ जगद्धर की टीका में भी मिलता है । अतः बहु संख्यक प्रतियों के पाठ को भी त्याज्य समझना पड़ा ।

यदि इन दो (या अनेक) पाठों में से भाषा, लिपि आदि के कारण किसी एक पाठ का शेष पाठ विकृत रूप हो सकते हों तो यह पाठ मूल पाठ है ।

उदाहरण १—यदि "य" गण की प्रतियां उत्तर भारत की लिपियों में लिखित हों और "र" गण की दक्षिण भारत की लिपियों में हों, और यदि "य" गण में पाठ 'धिष्ठिता' हो और "र" गण में 'त्रिष्ठिता', तो 'धिष्ठिता' मूल पाठ हो सकता है क्योंकि विष्ठिता' लिपि-भ्रम से 'धिष्ठिता' का विकृत रूप हो सकता है । उत्तर भारत की प्राचीन लिपियों में 'ध' और 'व' की आकृति समान होती थी । इस प्रसंग से एक और बात भी ज्ञात होती है कि 'र' गण का काल्पनिक आदर्श उत्तर भारत की लिपि में था या वह उत्तर भारत की लिपि के किसी आदर्श की प्रतिलिपि था । अतः रचना उत्तर से दक्षिण को गई थी ।

उदाहरण २—यदि सब प्रतियां शारदा लिपि के आदर्श के आधार पर देवनागरी लिपि में लिखी गई हों अर्थात् 'श' शारदा लिपि में हो, और यदि 'य' गण में 'उपा' और 'र' गण में 'तथा' पाठ हों, तो 'तथा' मूल पाठ होगा क्योंकि शारदा लिपि के 'त' और 'थ' देवनागरी लिपि के 'उ' और 'ष' से मिलती जुलती आकृति वाले होते हैं ।

(३) यदि 'य' गण की प्रतियों में पाठ-भेद हो, अर्थात् 'व' गण का पाठ ङ और 'ल' गण के सम पाठ से भिन्न हो, तो (य) गण में दो पाठ हो गए । इन में से कोई एक (मान लो कि (व) गण का) पाठ (र) गण की प्रतियों के पाठ से मिलता है तो (य) का पाठ (र) (व) के आधार पर निर्धारित किया जाएगा न कि ङ, (ल) के आधार पर । (व) और (र) की पाठ-समानता का समाधान उन धाराओं के संकर और आकस्मिक सरूपता के अतिरिक्त इस बात से हो सकता है कि (व) में (य) और (र) का साधारण पाठ अर्थात् (श) का पाठ मिलता है । ऐसी अवस्था में

Aho ! Shrutgyanam

ङ और (ल) के पाठ को अपपाठ, अशुद्ध या अनिष्ट पाठ कहते हैं। यह ग्राह्य नहीं।

इस विधि से दो प्रकार का लाभ है। पहला तो यह कि कुछ पाठांतर छोड़े जा सकते हैं, और दूसरा यह कि काल्पनिक मूलदर्श (श) के कुछ ऐसे पाठों का अनुमान किया जा सकता है जो सब प्रतियों का साधारण पाठ न हों।

काल्पनिक आदर्श और मूलादर्श का पुनर्निर्माण

भिन्न भिन्न काल्पनिक आदर्शों और मूलादर्श के पुनर्निर्माण की विधि निम्नलिखित है। प्रतियों के संकेत सब ऊपर वाले चित्र ही के अनुसार हैं।

(१) (व) का पुनर्निर्माण इस प्रकार हो सकता है—

ग घ के सम पाठ (व) के पाठ हैं।

यदि ग और घ में पाठ-भेद है और इन में एक पाठ (य) गण की शेष प्रतियों से मिलता है, तो वह (व) का पाठ है। क्योंकि कई भिन्न परम्परा वाली प्रतियों के सम पाठों का आधार मूलपाठ (श) हो सकता है, इसलिए ग घ की व्यक्तिगत अशुद्धियां (व) के पुनर्निर्माण में सहायक नहीं हो सकतीं।

इसी प्रकार यदि ग घ में पाठ-भेद है और इन में से कोई एक पाठ (र) गण या उस की किसी प्रति से मिलता है; तो वही (व) का पाठ है।

यदि ग घ के पाठ न परस्पर मिलते हों और न ही अन्य किसी प्रति से, तो हम नहीं कह सकते कि कौनसा पाठ (व) का है, अतः इस का पाठ संदिग्ध रह जाता है।

(२) (ल) का पुनर्निर्माण भी ऊपर वाली विधि से क, ङ (व) और (र) के मिलान से होगा। इस में उसी प्रकार निश्चय या सन्देह विद्यमान रहेंगे।

(३) (य) का पुनर्निर्माण उपर्युक्त नियमों के अनुसार ङ, (ल) (व) (र) के आधार पर होगा।

(४) (र) का पुनर्निर्माण इस प्रकार होगा—

च छ ज के सम पाठ (र) के पाठ हैं।

यदि इन प्रतियों में पाठ-भेद हो और इन में से कोई एक पाठ (य) गण या उस के उपगणों या उस की किसी प्रति के पाठ से मिलता हो, तो यह समान पाठ ही (र) का पाठ होगा। इस पाठ-समता का समाधान इन धाराओं के संकर और आकस्मिक सरूपता के अतिरिक्त इसी बात से हो सकता है कि सम पाठ ही (र) का पाठ था और यही (श) का पाठ भी था।

Aho ! Shrutgyanam

यदि च छ ज के पाठ न परस्पर मिलते हों और न ही अन्य किसी प्रति के पाठ से, तो (र) का पाठ संदिग्ध रह जाएगा।

इस सब का सार यह है कि क ख ग घ ङ च छ ज प्रतियों में से किसी एक प्रति में उपलब्ध वह पाठ, जो दूसरी प्रतियों के पाठ से भिन्न हो, (य) या (र) के पुनर्निर्माण में प्रायः सहायता नहीं कर सकता। इसलिए इस को अपपाठ मान कर, इस की उपेक्षा की जा सकती है।

यदि काल्पनिक मूलादर्श (श) से (य) और (र) के अतिरिक्त अन्य धाराएं भी निकलती हों, तो भी (य) (र) आदि का पुनर्निर्माण ऊपर बतलाई विधि से ही होगा।

(५) काल्पनिक मूलादर्श (श) का पुनर्निर्माण इस प्रकार होगा—

(य) (र) के पुनर्निर्मित समपाठ (श) के पाठ होंगे।

यदि इन में पाठ भेद हो, अर्थात् (य) का एक पाठ हो और (र) का दूसरा, तो इन में से कोई सा भी पाठ (श) का हो सकता है। यह पाठ संदिग्ध रहेगा। परंतु यदि वर्णों के आकार आदि के कारण एक पाठ दूसरे पाठ का विकृत रूप हो सके, तो दूसरा पाठ ही मूल पाठ होगा।

यदि (य) में भी पाठ-भेद हो और (र) में भी, तो इन में से किन्हीं दो या अधिक प्रतियों का सम पाठ (श) का पाठ हो सकता है। यदि किसी भी प्रति का पाठ दूसरी के पाठ से न मिले तो (श) का पाठ संदिग्ध होगा।

(६) यदि काल्पनिक मूलादर्श (श) से (य) (र) (ह) आदि अनेक धाराओं का उद्गम हुआ हो, तो (श) पाठ का पुनर्निर्माण इन में से किन्हीं दो या अधिक धाराओं के समपाठ से होगा। परन्तु जब इन धाराओं में भिन्न भिन्न पाठ हों, या जब किन्हीं दो या अधिक धाराओं की पाठ-समानता आकस्मिक हो, या परस्पर मिलान के कारण हो तो (श) का पाठ संदिग्ध होगा।

(७) संकीर्ण धाराओं के आधार पर (श) का पुनर्निर्माण—

पुनर्निर्माण के विषय में ऊपर जो लिखा गया है उस में भिन्न भिन्न धाराओं को शुद्ध माना गया है। परन्तु प्रायः देखने में आता है कि धाराएं शुद्ध नहीं होतीं, उन में अन्य धाराओं का संकर दृष्टिगोचर होता है। (श) की तीन धाराएं हैं—(य) (र) और (ह)। यदि (य) (र), (र) (ह), और (ह) (य) का परस्पर संकर हुआ हो, तो (य) (र) (ह) में से किसी एक धारा के पाठ को पाठांतर मानना पड़ेगा जो साधारण परिस्थिति में ग्राह्य नहीं होता। हम नहीं कह सकते कि इन भिन्न पाठों में कौन सा पाठ मौलिक है। अतः इन पाठों की महत्ता पुनर्निर्माण के लिए बराबर है।

Aho ! Shrutgyanam

पुनर्निर्माण के कुछ नियम—

पुनर्निर्माण में पाठ को ग्रहण करते समय सब से पूर्व यह प्रश्न उठता है कि 'क्या रचयिता ने यही पाठ लिखा था ?' इस बात का निर्णय करते समय हमें उस रचयिता के भाव, भाषा, शैली आदि का और पूर्वापर प्रसंग का ध्यान रखना पड़ता है। हम यह तो कह सकते हैं कि अमुक पाठ यहां पर हो ही नहीं सकता, परन्तु यह निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि यहां पर यही पाठ होना चाहिए। हम अपनी समझ के अनुसार पाठ को ग्रहण करते हैं। भिन्न भिन्न विद्वान भिन्न भिन्न निर्णय पर पहुंच सकते हैं और भिन्न भि॰ पाठ को मौलिक मान सकते हैं। इन पाठों के औचित्य की परस्पर तुलना कैसे की जाए ? इन में से कौन सा पाठ अन्य पाठों से अधिक उचित है ? किस को ग्रहण करें ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए संपादक को चाहिए कि सब प्रतियों के उपलब्ध पाठों पर अच्छी तरह विचार करे। यदि कोई पाठ अर्थहीन हो, पूर्वापर विरोधी हो, अप्रासंगिक हो, व्याकरण आदि के नियमों का उल्लंघन करता हो, रचयिता की व्यक्तिगत विशेषताओं के अनुकूल न हो, पुनरुक्ति हो, रचयिता द्वारा प्रयुक्त छंदों के नियमों के प्रतिकूल हो, प्रसंग को नष्ट भ्रष्ट करता हो, विचारधारा में ऐसी अड़चन डालता हो जिसका समाधान न हो सके, तो हम निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि वह पाठ मौलिक नहीं, अशुद्ध है, दूषित है। इसको मूल पाठ में ग्रहण नहीं कर सकते। इसका सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि यह दोष किसी प्रकार भी दूर न हो सके, तो पाठ को अति दूषित समझ कर छोड़ देना पड़ता है।

प्रायः देखा जाता है कि इन दूषित पाठों के स्थान में कोई न कोई ऐसा पाठ रखा जा सकता है। जो प्रस्तुत प्रकरण में संगत हो। इसको सुधार कहते हैं।

पाठ वही उचित है जो ठीक अर्थ दे, जो प्रकरण में संगत हो, रचयिता के भावों के अनुकूल हो, उस की साधारण शैली और भाषा के प्रतिकूल न हो, जिस से छंदोभंग न हो, विचार-धारा न टूटे, और पुनरुक्ति न हो। जो पाठ इन सब बातों को पूरा करे, उसे विषयानुसंगत कहते हैं। उस के इस गुण को विषयानुसंगति कहते हैं।

प्राचीन और अप्रचलित भाषाओं के विषय में एक और बात का ध्यान रखना चाहिए। हम उन के शब्दों का वह अर्थ लगा सकते हैं जो हमारे लिए तो संतोषप्रद हो, अभीष्ट हो परन्तु मूल रचयिता के लिए ऐसा न हो। हम नहीं कह

Aho ! Shrutgyanam

सकते कि उसे भी हमारा अर्थ ही अभीष्ट था। अब भी देखने में आता है कि रचयिता के शब्दों को न समझ कर या कुछ का कुछ समझ कर पत्र आदि के संपादक कई स्थानों पर अर्थ का अनर्थ कर देते हैं। हम किसी प्राचीन रचना को अपनी भाषा, भाव, शैली आदि के नियमों और विचारों से न जांचें, अपितु उस रचना के समय प्रचलित विचार, भाव, भाषा, शैली आदि के नियमों से जांचें। हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि अमुक रचयिता ने यहां पर क्या लिखा या सोचा होगा या वह क्या लिख या सोच सकता था। सपादक को इस बात से कोई वास्ता नहीं कि उस रचयिता को यहां पर क्या लिखना या सोचना चाहिए था।

पाठ औचित्य के विषय में एक यह बात भी देखनी पड़ती है कि उपलब्ध प्रतियों का समपाठ या उन के सब पाठ-भेद गृहीत पाठ के विकृत रूप हो सकते हों, और "लिपिकारों मे यह अशुद्धियां कैसे कीं", इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता हो। इस के लिए पिछले अध्याय में निरूपित दोष और उन के कारणों का परिज्ञान आवश्यक है। जो पाठ उपलब्ध पाठ भेदों का मूल कारण हो सके उस पाठ को **लेखानुसंगत** और उस के इस धर्म को **लेखानुसंगति** कहते हैं।

लेखानुसंगति के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि प्रस्तुत पाठ उपलब्ध प्रतियों में हो सकता हो। उदाहरण—किसी रचना की प्रतियों में 'विष्ठिता' और धिष्ठिता पाठ हैं, इन में से कौन सा ऐसा शब्द रखा जाए जो विषयानुसंगत भी हो और लेखानुसंगत भी। 'धिष्ठिता' विषयानुसंगत है। यह लेखानुसंगत भी है क्यों कि उत्तर भारत की प्राचीन लिपियों में 'ध' और 'व' समान आकृति वाले हैं।

प्रत्येक पाठ की इस प्रकार की परीक्षा के पश्चात् चार परिणाम हो सकते हैं—स्वीकृति, संदेह, त्याग और सुधार।

स्वीकृति—यदि संपादक निश्चयपूर्वक कह सके कि अमुक पाठ रचयिता को अभीष्ट था या हो सकता था, तो वह उसे मूल पाठ में स्वीकार करेगा। इस को स्वीकृति कहते हैं।

पाठ को स्वीकृति में विशेष ध्यान देने योग्य यह बात है कि कठिन पाठ प्रायः आसान पाठों से अच्छे होते हैं, और छोटे पाठ प्रायः लम्बे पाठों से प्राचीन होते हैं। 'कठिन' से हमारा अभिप्राय 'लिपिकार के लिए कठिय' और 'आसान' से 'लिपिकार के लिए आसान' है। हम पहले बतला चुके हैं कि जिस पाठ को लिपिकार नहीं समझता, उसे प्रायः वह अशुद्ध मान कर अपनी मति से सुधार देता है। परन्तु लिपिकार के सुधार ऊपरी होते हैं, वह पाठ की तह तक नहीं पहुंचते। वह उपयुक्त

Aho ! Shrutgyanam

दिखाई देते हैं। वास्तव में वह उपयुक्त नहीं होते। हाशिए आदि के टिप्पण मूल पाठ में आकर पाठ को लम्बा कर देते हैं। अतः लम्बे पाठ की अपेक्षा छोटे पाठ प्रायः अधिक शुद्ध, प्राचीन और मौलिक होते हैं।

संदेह—यदि संपादक यह निर्णय न कर पाए कि कौन सा पाठ मौलिक है, तो इस अवस्था को संदेह की अवस्था कहते हैं।

संदेह तब पैदा होता है जब विषयानुसंगति के कारण एक पाठ प्रामाणिक हो, परन्तु लेखानुसंगति किसी अन्य पाठ की पुष्टि करती हो, या संपादक को स्वयं इस बात का विश्वास न हो कि उस ने सब सामग्री का प्रयोग किया है। संपादक प्रायः दूसरी प्रकार के संदेह की अनुभूति तो करता है परन्तु इस बात को स्वीकार नहीं करता।

संपादन में संदिग्ध पाठों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कोई पाठ 'संदेह पूर्वक स्वीकृत' है अथवा 'संदेह पूर्वक त्यक्त' है, इस बात का भी स्पष्ट निर्देश होता है।

त्याग—जब संपादक को यह विश्वास हो जाता है कि अमुक पाठ मौलिक नहीं, तो वह उस को त्याग देता है। ऐसी अवस्था में उस पाठ को या तो उड़ा दिया जाता है या ब्रैकटों में रख दिया जाता है।

सुधार—जब संपादक इस निश्चय पर पहुंचे कि भिन्न भिन्न पाठों में से कोई पाठ भी विषयानुसंगत और लेखानुसंगत नहीं, तो वह उस पाठ को सुधारने का प्रयत्न करता है। सुधारा हुआ पाठ विषयानुसंगत भी हो और लेखानुसंगत भी। इस का विशद विवेचन अगले अध्याय में किया जाएगा।

Aho ! Shrutgyanam

अध्याय ६

पाठ-सुधार

सुधार की आवश्यकता—

हम ऊपर बतला चुके हैं कि पुनर्निर्मित पाठ सदा मौलिक पाठ से मिलता जुलता हो ऐसा नहीं होता। उस में कुछ न कुछ दोष होते हैं जो उपलब्ध सामग्री के आधार पर दूर नहीं किए जा सकते। इस लिए मूल पाठ तक पहुंचने के निमित्त हमें और आगे जाना पड़ता है। इन दोषों को यथाशक्ति हटाने के लिए पाठ-सुधार करना होगा।

सुधार की परीक्षा—

संपादक पूर्ण निश्चय से नहीं कह सकता कि किसी दूषित पाठ को हटा कर इसके स्थान पर कौनसा दूसरा पाठ रखा जा सकता है। इस बात के लिए उसे अपनी बुद्धि और ज्ञान पर आश्रित होना पड़ता है। भिन्न भिन्न विद्वान् भिन्न भिन्न सुधार उपन्यस्त कर सकते हैं। इस लिए यह देखना है कि इन में से कौन सा सुधार अन्य सुधारों से अधिक उचित है? किस को ग्रहण करें? इस के उत्तर में हमें पुनः पिछली दोनों बातों अर्थात् विषयानुसंगति और लेखानुसंगति पर ध्यान देना होगा जिन के आधार पर पुनर्निर्माण में अनेक पाठांतरों में से मौलिक पाठ को मालूम किया था, सुधार के सम्बन्ध में भी इन्हीं दोनों बातों से परीक्षा की जाती है।

सुधार वही उपयुक्त है जो विषयानुसंगत भी हो और लेखानुसंगत भी।

जो सुधार ठीक अर्थ दे, प्रकरण में संगत हो, रचयिता के भावों के अनुकूल हो, उसकी भाषा और शैली के प्रतिकूल न हो, वह विषयानुसंगत है।

वह सुधार लेखानुसंगत भी हो, अर्थात् वह उपलब्ध प्रतियों के पाठ भेद का स्रोत हो। यह पाठ भेद लिपिकारों द्वारा कैसे उत्पन्न हुआ, इस बात का समाधान कर सके।

लेखानुसंगति के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि प्रस्तुत शोध्य दोष उपलब्ध प्रतियों में लिपि-भ्रम से उत्पन्न हुआ हो जैसे—किसी रचना की प्रतियों में 'विष्ठिता' पाठ है और यह अर्थ नहीं देता। इस के स्थान पर कौन सा ऐसा शब्द रखा जाए जो विषयानुसंगत भी हो और लेखानुसंगत भी। यहां पर 'धिष्ठिता' लेखानुसंगत है क्योंकि उत्तर भारत की प्राचीन लिपियों में 'ध' और 'व' समान आकृति वाले होते हैं। यदि यह शब्द विषयानुसंगत भी हो तो यह ग्राह्य है।

Aho ! Shrutgyanam

यदि कोई सुधार यौगपद्येन विषयानुसंगत और लेखानुसंगत न हो, तो यह विषयानुसंगत है या लेखानुसंगत इस बात के अनुसार इस की ग्राह्यता में अन्तर पड़ जाता है। जो सुधार लेखानुसंगत न हो परन्तु पूर्ण रूप से विषयानुसंगत हो, वह तो ग्राह्य हो सकता है। जो लेखानुसंगत तो हो परन्तु विषयानुसंगत न हो, वह कदापि ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसी लिए तो आवश्यक है कि सम्पादक को लिपिज्ञान के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ जानना जरूरी है। उसे रचियता की भाषा, शैली, भाव आदि का विशेष अध्ययन करना चाहिए।

संपादन-पद्धतियां—

सम्पादन में सुधार का क्या स्थान है, इस के अनुसार सम्पादन-कार्य की दो पद्धतियां हैं—प्राचीन और नवीन।

प्राचीन पद्धति में सुधार को कोई स्थान नहीं। इसके अनुयायी प्रस्तुत पाठ में सुधार किए बिना ही येन केन प्रकारेण अर्थ लगाते हैं। वह प्रस्तुत शब्दों से पूर्वापर प्रसंग द्वारा ज्ञात अर्थ को निकालने का प्रयत्न करते हैं, चाहे वह अर्थ उन में हो चाहे न हो। यदि वह अपने इस प्रयत्न में सफल नहीं होते, तो वह प्रस्तुत पाठ को दूषित या अशुद्ध प्रयोग मान कर रचयिता के माथे मढ़ देते हैं। वह उस को रचियता का असाधारण प्रयोग या उस की व्यक्तिगत विशेषता बतलाते हैं। इस में सन्देह नहीं कि धुरंधर विद्वान् और सुप्रसिद्ध ग्रंथकार की कृतियों में भी असाधारण प्रयोग और अशुद्धियां मिलती हैं। इस का यह अर्थ नहीं कि हम इन अशुद्धियों को संपादित पाठ में ज्यों का त्यों छोड़ दें—केवल यह सोच कर कि शायद यह पाठ मौलिक हो। इस से रचना को अधिक हानि पहुंचने की संभावना है।

इस पद्धति के अनुसार वही पाठ मौलिक हो सकता है जो प्रतियों आदि के आधार पर हम तक पहुंचा हो। सम्पादक यदि कहीं पर सुधार करे भी, तो इस को टिप्पणों में या परिशिष्ट में रखे। इस से पाठ तो अवश्य वही रहेगा जिस के प्रमाण हमारे पास विद्यमान हैं परन्तु पढ़ने में अड़चन पड़ेगी। पदे पदे पाठक को अर्थ समझने के निमित्त ठहरना पड़ेगा और अपनी बुद्धि पर जोर देना होगा।

नवीन पद्धति के अनुसार अशुद्ध पाठ का सुधार करना अच्छा है परन्तु क्लिष्ट कल्पना से केवल अर्थ लगाना अच्छा नहीं। सम्पादक मूल में उस पाठ को देगा जो विषयानुसंगति और लेखानुसंगति के परस्पर तौल से मौलिक सिद्ध हो। मूलपाठ से संबद्ध सब सामग्री को वह तुलनात्मक टिप्पणों में देगा। हर बार उपस्थित पाठ की ही जांच करेगा, वह यह नहीं देखेगा कि अन्यत्र उसने क्या निर्णय किया था।

Aho ! Shrutgyanam

इस में संदिग्ध पाठों को विशेष रूप से दिखलाना होता है कोई पाठ 'सन्देह-पूर्वक स्वीकृत' है या 'सन्देह पूर्वक त्यक्त', इस बात का संकेत भी रहता है।

शोधक को प्रायः अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिए। उस के लिए इस बात का कोई महत्त्व नहीं कि किसी पाठ को पूर्ववर्ती संपादक या संपादकों ने ग्रहण कर रखा है। हम यह नहीं जान सकते कि उन्हों ने किसी पाठ को निजी ऊहापोह से अपनाया था या पहले सम्पादकों के विचारों से प्रभावान्वित हो कर। अतः जब तक कोई सम्पादक किसी पाठ की मौलिकता को स्वयं सिद्ध न कर ले, वह उसे मूल पाठ में न रखे।

इस बात का निर्णय करना बड़ा कठिन है कि लिपिकार की बजाए मूल रचयिता के माथे कौन कौन सी अशुद्धियां मढ़ी जायें। इस विषय में कोई उत्सर्ग नियम नहीं बनाया जा सकता। परिस्थिति के अनुसार ही निर्णय करना चाहिए। यदि मूल प्रति उपलब्ध न हो तो हम लिपिकार और रचयिता के दृष्टि मूलक दोषों में भेद नहीं कर सकते। वास्तव में यह लिपिकार के ही दोष होते हैं क्योंकि यदि रचयिता मूल प्रति को स्वयं लिखे तो वही उसका लिपिकार है।

यदि रचयिता ने कहीं जान बूझ कर अशुद्ध पाठ का प्रयोग किया हो, तो उस का सुधार नहीं करना चाहिए।

संदिग्ध पाठ—

कई विद्वानों का मत है कि संदिग्ध पाठ का निर्णय न करके उसे ज्यों का त्यों छोड़ देना चाहिए। यह सिद्धांत आसानी से प्रयुक्त किया जा सकता है परन्तु मानव स्वभाव के कारण इस का परिणाम अच्छा नहीं होता। प्राचीन साहित्य उस की अशुद्धियों को दूर करने के लिए नहीं पढ़ा जाता, वस्तुतः उस से आनन्द लिया जाता है। पाठक को उसे समझने में जितना कष्ट होगा उतना ही वह उसे कम पढ़ेगा। यदि उस दूषित पाठ को मूल में रहने दिया जाए जिस का सुधार हो सके और जिस का शोधित रूप ऐसा अर्थ दे सके जो पूर्वापर प्रसंग द्वारा आकांक्षित हो, तो द्विविध परिणाम होता है। प्रथम, उस संदर्भ का अभिप्राय ही पाठक के मस्तिष्क से दूर हो जायगा क्योंकि वह उसे समझने का काफ़ी परिश्रम न करेगा। इस का अर्थ यह होगा कि पाठक के लिए उस का अभाव प्राय हो जाएगा। दूसरे, पाठक आगे पीछे के शब्दों के वास्तविक अर्थ को तोड़ मोड़ कर उस संदर्भ से पूर्वापर प्रसंग द्वारा वांछित अर्थ को प्राप्त कर लेगा। अर्थ तो निकल आया परन्तु इस से पाठक को हानि होती है। वह उस पाठ के अर्थ को सम्यग् रूप से नहीं जान पाता, अतः जब

Aho ! Shrutgyanam

फिर कभी उसे समान पाठ मिलता है तो उस के मस्तिष्क में अशुद्धि और संदेह की लहर दौड़ जाती है।

अर्थ और सुधार—

प्राचीन पद्धति के अनुयायियों में यह कमज़ोरी है कि वह सुधार की अपेक्षा अर्थ लगाने को ही अच्छा समझते हैं चाहे वह कितनी ही क्लिष्ट कल्पना से लगे। इस पद्धति के कई विद्वानों ने तो यहां तक कहा है कि किसी पाठ का अर्थ लगा देना उसके सुधार से अधिक महत्त्व-पूर्ण और प्रशंसनीय है। दूसरी पद्धति के विद्वान् इस के बिलकुल विपरीत हैं। वह कहते हैं कि सुधार ही सम्पादक का कार्य-क्षेत्र है, क्लिष्ट कल्पना से अर्थ लगाना नहीं। वास्तव में दोनों परिस्थितियां ठीक नहीं। सुधार और क्लिष्ट कल्पना दोनों ने ही किसी पूर्व अस्पष्ट पाठ पर प्रकाश डालना है। परन्तु सुधार कठिन कार्य है, इस लिए यह अधिक प्रशंसनीय है। सुधार भी वही उचित है जो प्रस्तुत संदर्भ के साधारण और संगत अर्थ के साथ चले।

प्राचीन पद्धति के विद्वानों का परम ध्येय यह रहा है कि जो पाठ जिस रूप में हम तक पहुंचा है उस की उसी रूप में रक्षा करनी चाहिए। वह इस बात में किसी हद तक ठीक भी है क्योंकि यदि सुधार की बागडोर ढीली छोड़ दी जाए, तो यह पाठ को कुछ का कुछ बना देगा। कुछ ही पीढियों में इस बात का निश्चय करना असम्भवप्राय हो जाएगा कि कौन सा पाठ मौलिक था। यही दशा आज हमारे प्राचीन साहित्य की है। इस पर अनेक सुधारकों के हाथ लग चुके हुए हैं। अतः सम्पादक को मूल पाठ का ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त घोर परिश्रम करना पड़ता है।

महाभारत और सुधार—

भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट पूना द्वारा संपादित और प्रकाशित महाभारत आदि पर्व में सुधार बहुत कम किए गए हैं—सात आठ सहस्र श्लोकों में केवल ३५ पाठों का सुधार किया गया है, वह भी शब्दों का, वाक्यों का नहीं। सुधार प्रायः ऐसे हैं जिन से पूर्वापर संगत अर्थ में फ़रक नहीं पड़ा। जहां सन्देह रहा वहां भी उपलब्ध प्रतियों के किसी न किसी सार्थक पाठांतर को ही ग्रहण किया है। इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि वह अर्थ पूर्णतया संतोषप्रद है, और मौलिक है या नहीं। इस का कारण यह है कि हमें महाभारत काल की परिस्थिति और उस समय प्रचलित व्याकरण आदि के प्रयोगों का पूर्ण ज्ञान नहीं। हम निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि सारे का सारा महाभारत एक ही भाषा और एक ही शैली में लिखा गया था। हमें उपस्थित शब्दों से अर्थ लगाना चाहिए। जब अर्थ न लगे, तभी सुधार की ओर अग्रसर होना

Aho ! Shrutgyanam

चाहिए। जब प्रतियों में परस्पर विरोध हो, तो विरोध को दूर करना ही सुधार का कार्य-क्षेत्र है। परन्तु जब प्रतियों में पाठैक्य हो तो सुधार की कोई आवश्यकता नहीं। महाभारत में सुधार के इन सिद्धांतों का अनुसरण किया गया है। जब नेपाल से महाभारत के आदिपर्व की प्राचीनतम उपलब्ध प्रति मिली और इस का अवलोकन किया गया तो महाभारत के सुधार पचास प्रतिशत ठीक उतरे[1]।

व्यक्ति-रचित साहित्य और सुधार—

व्यक्ति-रचित साहित्य के विषय में यह बात सर्वथा लागू नहीं होती। वहां परिस्थिति भिन्न है। किसी रचयिता की कृतियों में जो मौलिक पाठ उपलब्ध हों, उनके आधार पर हम उस की शैली, भाषा, भाव, विचार आदि का अध्ययन कर सकते हैं। संभव है हमें कोई समान संदर्भ ही मिल जावें। इन शुद्ध और मौलिक संदर्भों के परिज्ञान से हम उचित सुधार कर सकते हैं। समान संदर्भों की अनुपस्थिति में हम रचयिता सम्बन्धी अपने विचारों के अनुसार दो पाठांतरों में से एक को अपनायेंगे। यह सम्भव है कि जिस पाठ को हम चुनते हैं, वह मौलिक न हो। शायद रचयिता को दूसरा पाठांतर ही अभीष्ट हो और उस समय वही उस के लिए सन्तोष-प्रद हो। सम्भव है वह किसी ऐसे भाव या विचार को सूचित करता हो जिसे समझने में आज हम असमर्थ हैं। जब पाठांतरों के विषय में यह बात है तो सुधार के विषय में तो कभी निश्चय नहीं हो सकता।

उचित विधि—

इस लिए सब से अच्छी विधि तो यही है कि हम इन दोनों पद्धतियों के बीच के मार्ग पर चलें। हमें चाहिए कि पहले प्रस्तुत संदर्भ को उपलब्ध पाठांतरों की सहायता से समझने का प्रयत्न करें। जब हमें निश्चय हो जाए कि पाठ दूषित है, तब विषयानुसंगति और लेखानुसंगति की परीक्षा से उपयुक्त सुधार कर लें। यदि कोई प्राचीन समान पाठ या प्रयोग मिल जाए तो हमारा प्रयत्न निश्चित रूप से सफल है। अन्यथा भी हमें काफ़ी हद तक निश्चय हो सकता है कि हमारा सुधार उपयुक्त है।

---

१ भूमिका पृ० ६२-६४

Aho ! Shrutgyanam

परिशिष्ट १

प्रतियों के मिलान की रीति

प्रतियों का मिलान बड़ी सावधानी और मेहनत का काम है। पहले उपलब्ध सामग्री में से सब से अधिक प्रामाणिक और शुद्ध प्रति का निर्धारण करना चाहिये। फिर श्लोकबद्ध ग्रन्थ के एक एक पाद, श्लोकार्ध या श्लोक को, और गद्य ग्रन्थ के एक एक छोटे अंश को जो कागज़ पर एक पंक्ति में आ सके, पृथक २ कागज़ की शीटों पर लिखना चाहिये। शीट के दोनों ओर हाशिया रहना चाहिये। बायें हाशिये में मिलान वाली प्रतियों के नम्बर A B C आदि और दायें हाशिये में प्रक्षिप्त आदि पाठ या अन्य टिप्पनी लिखनी चाहिये। कागज़ों पर मुख्य प्रति का समग्र पाठ उतारा जायगा और मिलान वाली प्रतियों का केवल पाठांतर या भेद दिखाया जायगा।

शीटों की संख्या संपाद्य ग्रन्थ के परिमाण पर, और शीटों की लंबाई मिलान वाली प्रतियों की संख्या पर निर्भर हैं। यदि शीटों पर चार-खाना लकीरें खिंची हों तो मिलान में सुविधा और शुद्धता रहेगी क्योंकि इस तरह पाठांतर का प्रत्येक अक्षर अपने मूल अक्षर के नीचे २ आता जायगा। शेष बातों में संपादक को परिस्थिति के अनुसार अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिये।

पूने से महाभारत का जो संस्करण निकल रहा है उसके तय्यार करने में समग्र पाठ के लिए कम से कम दस प्रतियां मिलाई गई हैं। बहुत से पर्वों के लिये बीस प्रतियों का, कुछ के लिये तीस और चालीस प्रतियों का, और आदि पर्व के पहले दो अध्यायों के लिये साठ प्रतियों का मिलान किया गया क्योंकि इसी के आधार पर महाभारत के संपादन-सिद्धान्त आश्रित हैं।

मिलान करने के लिये एक प्रति का सारा पाठ एक एक श्लोक करके एक एक शीट पर उतारा गया। मिलान के पश्चात् दूसरे व्यक्तियों ने उन का पुनरीक्षण किया*।

---

* महाभारत, आदि पर्व—अंग्रेज़ी उपोद्घात—पृष्ठ IV-V

Aho ! Shrutgyanam

मिलान की शीटों का नमूना

शीट नं० १

A	·	प	इ	अ	व	र	जा	सु	सि	रि	क	ट्ठ	इं	तीनों प्रतियों में समान पाठ है।
B														
C														

शीट नं० २

A	ता	सु	जि	अं	ग	इ	म	ज्झ	म	णि	ट्ठ	इ	
B													
C								ज्झु					C Adds मेह्ल bet. इ म-

शीट नं० ३

A	भ	णु		लि	को	ल	उ	सो	म	हु	जो	ळ्व	णा	
B													गो	
C													णो	

शीट नं० ४

A	अ	ण्ण	हो	मु	य	घ	ह्ले	ज्ज	सु	स	-व	व	णो	
B			हं		व									
C	अ	ह	वा		अ		ह्लि		हु		❀		णि	❀ Adds मसाणि bet. स-व, apparently a gloss on सवणो

यह मिलान हरिषेण कृत "धम्मपरिक्खा" की प्रतियों का है। A B प्रतियें भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट की हैं और C अम्बाला शहर के जैन भंडार की। पाठ दूसरी सन्धि के दूसरे घत्ते का है।

Aho ! Shrutgyanam

परिशिष्ट २

प्राचीन लेखन-सामग्री

काव्यमीमांसा में कवि के उपकरण की चर्चा करते हुए राजशेखर ने कहा है—

'तस्य सम्पुटिका सफलकखटिका, समुद्गकः, सलेखनीयकमषीभाजनानि ताडपत्राणि भूर्जत्वचो वा, सलोहकण्टकानि तालदलानि, सुसम्मृष्टा भित्तयः सतत-सन्निहिताः स्युः ।'[1]

इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस काल में ताडपत्र, भोजपत्र, फलक और सम्मृष्ट भित्ति आदि पर लिखने की परिपाटी थी। इसी प्रकार योगिनीतंत्र[2] में वृक्षों के पत्तों के अतिरिक्त धातु के प्रयोग का भी उल्लेख है।

अद्यावधि जिस जिस सामग्री पर लेख मिले हैं, वह निम्नलिखित है—

(१) ताड़पत्र—ताड़ वृक्ष दक्षिण भारत में समुद्र तट के प्रदेशों में अधिक होता है। पुस्तक लिखने के लिये जो ताड़पत्र काम में आते थे उन को सुखा कर पानी में उबालते या भिगो रखते थे। इन को पुनः सुखा कर शंख, कौड़े, चिकने पत्थर आदि से घोंटते थे। इन की लंबाई एक से तीन फुट तक और चौड़ाई एक से चार इंच तक होती है।

पश्चिमी और उत्तरी भारत वाले इन पर स्याही से लिखते थे परन्तु उड़ीसा और दक्षिण के लोग उन पर तीखे और गोल मुख की शलाका को दबा कर अक्षर कुरेदते थे। फिर पत्रों पर काजल फिरा कर अक्षर काले कर देते थे। कम लम्बाई के पत्रों के मध्य

---

१. काव्य मीमांसा (बड़ोदा संस्करण) पृ० ५० ।

२. भाग ३, पटल ७ में निम्नलिखित श्लोक आते हैं जो शब्दकल्पद्रुम में से 'पुस्तक' शब्द के वर्णन से उद्धृत किए हैं :—

"भूर्जे वा तेजपत्रे वा ताले वा ताड़िपत्रके ।
अगुरुणापि देवेशि ! पुस्तकं कारयेत् प्रिये ! ॥
सम्भवे स्वर्णपत्रे च ताम्रपत्रे च शङ्करि ।
अन्यवृक्षत्वचि देवि ! तथा केतकिपत्रके ॥
मार्त्तण्डपत्रे रौप्ये वा वटपत्रे वरानने ! ।
अन्यपत्रे वसुदले लिखित्वा यः समभ्यसेत् ।
स दुर्गतिमवाप्नोति धनहानिर्भवेद् ध्रुवम् ॥"

Aho ! Shrutgyanam

में एक, और अधिक लम्बाई वालों के दो—मध्य से कुछ अन्तर पर दाईं और बाईं ओर एक एक—छिद्र किये जाते थे। इन छिद्रों में सूत्र पिरो कर गांठ दे देते थे।

सातवीं शताब्दी में ह्यूनच्सांग लिखता है कि लिखने के लिए ताड़पत्र का प्रयोग सारे भारत में होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह इस समय से भी बहुत पूर्व भारत में प्रचलित था, क्योंकि तक्षशिला से प्रथम शताब्दी का एक ताम्रपत्र मिला है जिस का आकार ताड़पत्र से मिलता है।

ताड़पत्रों पर स्याही से लिखी हुई पुस्तकों में सब से पुराना अश्वघोष के दो नाटकों का त्रुटित अंश है जो दूसरी शताब्दी के आसपास का लिपिकृत है। गॉडफ्रे संग्रह के कुछ ताड़पत्र चौथी शताब्दी में लिखे प्रतीत होते हैं। जापान के होरियूज़ि विहार में सुरक्षित 'प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र' और 'उष्णीषविजयधारणी' नामक बौद्ध ग्रंथ छठी शताब्दी के आस पास लिपिबद्ध किये गए थे। ग्यारहवीं शताब्दी और उस के पीछे के तो अनेक ताड़पत्रीय पुस्तकें गुजरात, राजपूताना, नेपाल आदि प्रदेशों में विद्यमान हैं। लोहशलाका से उत्कीर्ण ताड़पत्रों की पुस्तकें पंद्रहवीं शताब्दी से पूर्व की नहीं मिलीं।

(२) भूर्जत्वचा—इस को भूर्जपत्र या भोजपत्र भी कहते हैं। यह 'भूर्ज' नामक वृक्ष की भीतरी छाल है, जो हिमालय पर्वत पर प्रचुरता से होता है। इस के अतिरिक्त 'उग्र' आदि अन्य वृक्षों की छाल पर भी लिखते थे परन्तु बहुत कम। वृक्षत्वचा का प्रयोग प्राचीन काल में पाश्चात्य देशों में भी होता था क्योंकि ग्रीक और लैटिन भाषाओं में छाल-सूचक शब्द—बिब्लोस (biblos) और लीब्र (libre) ही पुस्तक-सूचक शब्द बन गए।

ग्रीक लेखक कर्टियस (Curtius) ने लिखा है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत में भोज वृक्ष की छाल पर लिखा जाता था। अलबेरूनी लिखता है कि "मध्य और उत्तरीय भारत में लोग तूज़ वृक्ष की छाल का प्रयोग करते हैं।......इस वृक्ष को भूर्ज कहते हैं। वे लोग इस का एक गज़ लम्बा और हाथ की खूब फैलाई हुई उंगलियों जितना, या उससे कुछ कम चौड़ा टुकड़ा लेते हैं, और इसे अनेक रीतियों से तैयार करते हैं। वे इसे चिकनाते और खूब घोंटते हैं जिस से यह दृढ़ और स्निग्ध बन जाता है। तब वे इस पर लिखते हैं[1]।"

भोजपत्रों पर लिखी सब से प्राचीन पुस्तक मध्य एशिया से मिली है जो खरोष्ठी लिपि का धम्मपद है और जो दूसरी या तीसरी शताब्दी में लिपि किया गया

---

१. "अलबेरूनी का भारत" (हिन्दी), भाग २, पृ० ८६-७।

Aho ! Shrutgyanam

होगा। संयुक्तागमसूत्र' चौथी शताब्दी का है। तत्पश्चात् गॉड्फे संग्रह की अपूर्ण प्रतियां और बौवर (छटी श०) और बखशाली (आठवीं श०) प्रतियां हैं। इन के अनन्तर काश्मीर हस्तलेख हैं जो अब संसार के प्रसिद्ध पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। यह प्रायः पंद्रहवीं शताब्दी से पूर्व के नहीं मिलते।

(३) **कपड़ा**—इस को संस्कृत भाषा में पट, पटिका, या कार्पासिक पट कहते हैं। लेखन-सामग्री के रूप में इस का उल्लेख स्मृतियों[१] और सातवाहन के समकालीन कई शिलालेखों[२] में मिलता है। दक्षिण में लिखने के लिए इस का प्रयोग अब भी होता है।

कपड़े का प्रयोग जैनों में बहुलता से मिलता है। ब्यूलर को जैसलमेर में चीनांशु पर जैन आगमों की सूची मिली थी। और पीटरसन ने लिखा है कि पाटण के एक जैन भंडार में श्री प्रभसूरिविरचित 'धर्मविधि' नामक पुस्तक, उदयसिंह की वृत्ति सहित, २५ इंच चौड़े कपड़े के ९२ पत्रों पर सं० १४१८ का लिपिकृत विद्यमान है। बड़ोदा के जैन भंडार में 'जयप्राभृत' कपड़े पर लिखा मिलता है। कपड़े पर विज्ञप्तियां भी लिखी जाती थीं जिन को हमने बड़ोदा में डा० हीरानन्द जी शास्त्री के निजी संग्रह में देखा है।

ओरियंटल कालेज के भूतपूर्व प्रिन्सिपल सर् ऑरल स्टाइन को मध्य एशिया से भी अनेक प्रकार के कपड़ों पर लेख मिले थे।

(४) **लकड़ी का पाटा और पाटी**—ललितविस्तर[३], जातक[४] आदि बौद्ध ग्रंथों में लकड़ी की पाटियों (फलक) का उल्लेख है[३]। शाक्यमुनि को अक्षरारंभ के समय चंदन की पाटी दी गई थी। विद्यार्थी अपने अपने फलक पाठशाला में ले जाते और वहां उन पर लिखते थे[४]।

रंगीन फलकों पर लिपिकृत पुस्तकें ब्रह्मदेश में बहुत मिलती हैं और आसाम भी एक पुस्तक मिली है जो बोडलेअन पुस्तकालय में सुरक्षित है।

---

१. दत्त्वा भूमिं निबन्धं वा कृत्वा लेख्यन्तु कारयेत्।
आगामिभद्रनृपतिः परिज्ञानाय पार्थिवः।
पटे वा ताम्रपट्टे वा समुद्रोपरिचिह्नितम्॥ (मिताक्षरा, अध्याय १, ३१६, ३१७)

२. कात्रे, पृ० ५।

३. ललितविस्तर अध्याय १० (अंग्रेज़ी अनुवाद) पृ० १८१-८५।

४. कटाहक जातक।

Aho ! Shrutgyanam

(५) धातु—लिखने के लिए सोना, चांदी, कांसी, पीतल, तांबा, लोहा आदि अनेक धातुओं का प्रयोग होता था। सोने और चांदी का प्रयोग बहुत कम होता था परंतु तांबे का बहुत अधिक।

राजाओं तथा सामंतो की ओर से मंदिर, मठ, ब्राह्मण, साधु आदि को दान में दिए हुए गांव, खेत, कूप आदि की सनदें तांबे पर खुदवा कर दी जाती थीं। इन को दानपत्र, ताम्रपत्र, ताम्रशासन, या शासनपत्र कहते हैं। दानपत्रों की रचना दानी स्वयं करता या किसी विद्वान् से कराता था। फिर उस लेख्य को सुंदर अक्षर लिखने वाला लेखक स्याही से तांबे के पत्रों पर लिखता और सुनार, ठठेरा या लुहार उसे खोदता था।

इन पत्रों की लंबाई और चौड़ाई लेख्य, लेखनी आदि पर निर्भर होती थी। इन का आकार ताड़, भोज आदि आदर्श पत्रों के अनुसार होता था। लंबे ताम्रपत्र प्रायः दक्षिण में मिलते हैं क्योंकि वहां ताड़पत्रों का प्रयोग बहुत होता था। यदि एक ही दानपत्र दो या अधिक ताम्रपत्रों पर खुदा हो तो इन को तांबे के एक या दो छल्लों से जोड़ा जाता था। कभी कभी इस छल्ले की संधि पर राजमुद्रा भी लगाई जाती थी।

सुवर्णपत्रों का उल्लेख जातकों[1] में मिलता है—इन पर लोग अपने कुटुंब संबंधी विषयों, राजकीय शासनों और धर्म नियमों को खुदवाते थे। तक्षशिला के गंगू नामक स्तूप से खरोष्ठी लिपि के लेख वाला, और ब्रह्मदेश से अनेक सुवर्णपत्र प्राप्त हुए हैं।

रजतपत्र तक्षशिला और भट्टिप्रोलू से मिले हैं। जैन मंदिरों में चांदी के गट्टे और यंत्र मिलते हैं जिन पर 'नमस्कार मंत्र' खुदा रहता है।

बुद्धकालीन ताम्रशासनों का ज्ञान फ़ाहियान के लेखों से होता है।

तांबे और पीतल की जैन मूर्तियों पर भी लेख मिलते हैं।

(६) चर्म—योरप और अरब आदि देशों में प्राचीनकाल में चमड़े पर लिखा जाता था। परंतु भारत के लोग इसे अपवित्र मानते हैं इसलिए इस का प्रयोग यहां शायद ही होता होगा। फिर भी चर्म पर लिखने के उदाहरण मिलते हैं। सुबंधु[2] ने अपनी 'वासवदत्ता' में अंधेरे आकाश में चमकते हुए तारों को स्यायी से काले किए हुए चमड़े पर चंद्रमा रूपी खड़िया से बनाए हुए शून्यबिन्दुओं से उपमा दी है।

---

१. कण्ह, रुरु, कुरुधम्म और तेसकुन नाम के जातक।

२. विश्वं गणयतो विधातुः शशिकठिनीखण्डेन तमोमषीश्यामेऽजिन इव नभसि संसारस्यातिशून्यत्वाच्छून्य बिन्दव इव—हाल संपादित वासवदत्ता, पृ० १८२।

Aho ! Shrutgyanam

स्ट्रेबो[1] ने लिखा है कि आगस्टस सीज़र (मृत्यु विक्रम सं० ७१) को भारत से चर्म पर एक लेख आया था। स्टाइन को मध्य एशिया से चर्म पर खरोष्ठी लिपि के लेख मिले थे और ब्यूलर को जैसलमेर के 'बृहत् ज्ञानकोश' नामक जैन भण्डार में हस्तलेखों के साथ अलिखित चर्मपत्र भी मिला था।

(७) **पाषाण**—प्राचीन काल से भारत में कई प्रकार का पाषाण लिखने के काम आता था। इस पर अनेक राजकीय शासन और कुछ ग्रंथ मिले हैं। बीजोल्या (राजपूताना) से शिलाओं पर उत्कीर्ण 'उन्नतशिखर पुराण' और अजमेर से विग्रह-राज चतुर्थ और उस के राज कवि सोमेश्वर द्वारा रचित दो नाटकों (हरकेलिनाटक और ललितविग्रहराजनाटक) के अंश मिले हैं[2]।

(८) ईंटों पर खुदे हुए बौद्ध सूत्र उत्तर-पश्चिम प्रांत में मिले हैं। कच्ची ईंटों पर अक्षर उत्कीर्ण करके उन को पकाया जाता था।

महिंजोदड़ो, हड़प्पा, नालंदा, पाटलिपुत्र आदि स्थानों से मिट्टी की मुद्राए और पात्र मिले हैं जिन पर लेख खुदे हैं।

(९) **काग़ज़ (कार्पासपत्र)**—कहते हैं कि पहिले पहिल चीन वालों ने सं० १६२ में काग़ज़ बनाया[3]। परंतु निअर्कस[4] अपने व्यक्तिगत अनुभव से लिखता है कि "हिंदुस्तान के लोग रूई को कूट कर लिखने के लिए काग़ज़ बनाते हैं।" ब्यूलर आदि कई पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि योरप की नाईं भारत में भी काग़ज़ का प्रचार मुसलमानों ने किया था। परंतु इन के आने से पूर्व के भारतीय साहित्य में कुछ उल्लेख ऐसे मिलते हैं जिन के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत

---

१. मॅक्रिंडल—एन्शंट इंडिआ ऐज़ डिस्क्राइब्ड बाइ स्ट्रेबो, पृ० ७१।

२. भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृ० १५० का टिप्पण नं० ६।

३. भारत पर आक्रमण करने वाले यवन बादशाह सिकंदर का निअर्कस एक सेनापति था। वह उस के साथ पंजाब में रहा और वापसी पर भी वही सेनापति था। उस ने आक्रमण का विस्तृत वृत्तांत लिखा था जिस का सार एरिअन ने अपनी इंडिका नामक पुस्तक में दिया है।

४. इस विषय में मैक्समूलर लिखता है कि 'निअर्कस कहता है—भारतवासी रूई से काग़ज़ बनाना जानते थे' (देखो—हिस्टरी ऑफ़ एन्शंट संस्कृत लिट्रेचर पृ० ३६७), और ब्यूलर का आशय है "अच्छी तरह कूट कर तय्यार किये हुए रूई के कपड़ों के "पट" (इंडियन पेलिओग्राफ़ी पृ० ९८) जो भ्रमपूर्ण है क्योंकि पट अब तक बनते हैं और वह सर्वथा कूट कर नहीं बनाए जाते। निअर्कस का अभिप्राय काग़ज़ों से ही है। (भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० १४४ का टिप्पण ३)।

Aho ! Shrutgyanam

में काग़ज़ का प्रचार था। धारा के राजा भोज के समय में लिखी गई 'प्रशस्ति-प्रकाशिका'[1] में और वररुचिप्रणीत 'पत्रकौमुदी' में बतलाया गया है कि राजकीय पत्रों की कैसे तह की जाए, कितना हाशिया छोड़ना चाहिए, बाईं ओर के निचले किनारे को थोड़ा सा काटना चाहिए, पिछले पृष्ठ पर 'श्री' शब्द अनेक बार लिखना चाहिए —यह सब ऐसी बातें हैं जिन का संबंध ताड़ या भोज या धातु के पत्रों से नहीं हो सकता प्रत्युत काग़ज़ से ही हो सकता है[2]।

देसी कागज़ चिकने न होने से पक्की स्याही उन के आर पार फैल जाती थी इसलिए उन पर गेहूं या चावल के आटे की पतली लेई लगा कर और उस को सुखा कर, शंख आदि से घोंट लेते थे। इस से कागज़ चिकने और कोमल हो जाते थे। कभी कभी लेई में संखिया या हरिताल भी डाल देते थे। इस से काग़ज़ को कीड़ा नहीं लगता था।

जैन लेखकों ने कागज़ की पुस्तकें लिखने में ताड़पत्रों का अनुकरण किया है, क्योंकि काग़ज़ की पुरानी पुस्तकों के प्रत्येक पत्रे का मध्य भाग बहुधा खाली छोड़ा हुआ मिलता है। चौदहवीं शताब्दी की लिखी हुई कुछ प्रतियों में प्रत्येक पन्ने और ऊपर नीचे की पाटियों में छेद किए हुए भी देखने में आते हैं।[3]

भारत में कागज़ की प्राचीनतम पुस्तकें तेरहवी शताब्दी की मिलती हैं, परन्तु मध्य एशिया में भारतीय गुप्तलिपि की चार पुस्तकें और कुछ संस्कृत पुस्तकें मिली हैं जो लग भग पांचवीं शताब्दी की हैं। कई विद्वान् इनको न भारतीय काग़ज़ पर और न भारत में लिखी हुई मानते हैं।

स्याही (मषी)

भारत में नाना वर्णों की स्याही का प्रयोग हुआ मिलता है जैसे काली, लाल, पीली, हरी, सुवर्णमयी, रजतमयी आदि। इन के बनाने की विधि निम्नलिखित है।

---

१. शब्दकल्पद्रुम में 'पत्र' शब्द के विवरण में उद्‌धृत—

पत्रं तु त्रिगुणीकृत्य ऊर्द्ध्वे तु द्विगुणं त्यजेत्।
शेषभागे लिखेद्वर्णान् गद्यपद्यादिसंयुतान्॥
दक्षिणे पत्रकोणस्य अधस्ताच्छेदयेत् सुधीः।
एकाङ्गुलप्रमाणेन राजपत्रस्य चैव हि॥

२. गफ़—पेपर्ज़ रिलेटिंग टु दि कोलेक्शन अंड प्रेज़र्वेशन ऑफ़ दि रिकार्डज़ ऑफ़ एन्शंट संस्कृत लिट्रेचर ऑफ़ इंडिया, पृ० १६।

३. भारतीय प्राचीनलिपिमाला, पृ० १४५ और उसी पृष्ठ का टिप्पण १।

Aho ! Shrutgyanam

काली स्याही[1]—कागज़ पर लिखने की काली स्याही दो प्रकार की होती है—पक्की और कच्ची। पक्की स्याही से पुस्तकें लिखी जाती हैं और कच्ची से साधारण काम लिया जाता है। पक्की स्याही बनाने के लिए मिट्टी की हंडिया में जल और पीपल की पिसी हुई लाख को डाल कर आग पर रख देते हैं। फिर इस में पिसा हुआ सुहागा और लोध मिलाते हैं। जब यह मिश्रित पदार्थ कागज पर लाल लकीर देने लगे तो इसे उतार कर छान लेते हैं। इस को अलता (अलक्तक) कहते हैं। फिर तिलों के तेल के दीपक के काजल को बारीक कपड़े में बांध कर, इस में फिराते रहते हैं जब तक कि उस से काले अक्षर बनने न लग जावें।

कच्ची स्याही काजल, कत्था, बीजाबोर और गोंद को मिला कर बनाई जाती है

भोजपत्र पर लिखने की स्याही बादाम के छिलकों के कायलों को गोमूत्र में उबाल कर बनाते हैं।

लाल स्याही[1]—एक तो अलता, जिस की निर्माण विधि काली स्याही के विवरण में बतलाई गई है, लाल स्याही के रूप में प्रयुक्त होता है और दूसरे गोंद के पानी में घोला हुआ हिंगलू।

हरी, पीली आदि स्याही—सूखे हरे रंग को गोंद के पानी में घोल कर हरी, हरिताक से पीली और जंगाल से जंगाली स्याही भी लेखक लोग बनाते हैं। केवल हरिताल का प्रयोग भी मिलता है।

सोने और चांदी की स्याही[1]—सोने और चांदी के वरक़ों को गोंद के पानी में घोंट कर सुवर्णमयी और रजतमयी स्याहियां बनाई जाती थीं। इन स्याहियों से लिखने के पहले पत्रे काले या लाल रंग से रंगे जाते थे। कलम से लिख कर पत्रों को कौड़ी या अकीक आदि से घोंटते थे जिस से अक्षर चमक पकड़ लेते थे।

प्रयोग की प्राचीनता—महिंजोदड़ो से एक खोखला पात्र मिला है जिस को मैके आदि विद्वान् मषीपात्र मानते हैं। निअर्कस और कर्टियस के लेखों से भी पता चलता है कि भारत में विक्रम से तीन सौ वर्ष पूर्व भी स्याही का प्रयोग किया जाता था। मध्य एशिया से प्राप्त खरोष्ठी लिपि के लेख स्याही से लिखे हुए हैं—इन के आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विक्रम की प्रथम शताब्दी में स्याही से लिखा जाता था। स्याही का प्राचीनतम लेख सांची के एक स्तूप से निकला है जो कम से

---

१ भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृ० १५४-६

Aho ! Shrutgyanam

क्रम विक्रम से पूर्व तीसरी शताब्दी का होगा। अजंता की गुहाओं में विविध वर्णों के लेख और चित्र मिलते हैं।

हस्तलिखित पुस्तकों में वैदिक स्वरों के चिह्न, अध्याय-समाप्ति की पुष्पिका, 'भगवानुवाच', 'ऋषिरुवाच' आदि वाक्य, विराम आदि चिह्न प्रायः रंगीन स्याहियों से लिखे जाते थे। जैन पुस्तकों में इन का प्रयोग विशेष रूप से मिलता है। पत्रे के दाएं और बाएं हाशिए की दो दो खड़ी लकीरें प्रायः अलता या हिंगलू से लगाई जाती थीं। जिन अक्षरों या शब्दों को काटना होता था उन पर आम तौर पर हरिताल फेर देते थे। जैन पुस्तकों के लिखने में सोने और चांदी की स्याहियों का प्रयोग भी काफ़ी मिलता है।

स्याही-संबंधी एक आख्यान—द्वितीय 'राजतरंगिणी'[1] का कर्ता जोनराज अपने ही एक मुकद्दमे की बाबत लिखता है कि मेरे दादा ने दस प्रस्थ भूमि में से एक प्रस्थ बेची थी। उस की मृत्यु के पश्चात् खरीदने वाले दसों प्रस्थ जबरदस्ती भोगते रहे और विक्रय पत्र में 'भूप्रस्थमेकं विक्रीतं' का 'भूप्रस्थदशकं विक्रीतं' कर लिया[2]। मैंने जब राज सभा में मुकद्दमा किया तो राजा ने विक्रय पत्र को पानी में डाल दिया जिस से नई स्याही के अक्षर तो धुल गए परन्तु पुरानी के रह गए। इस से स्पष्ट है कि स्याही की सहायता से उस राजा ने पूर्ण रूप से न्याय किया।

कलम (लेखनी)—स्याही से पुस्तकें लिखने के लिए नड़ या बांस की लेखनियां काम में आती थीं। अजंता की गुहाओं के रंगीन चित्र महीन बालों की कूर्चिका (वर्तिका, या तूलिका) से लिखे गए होंगे। दक्षिण में ताड़पत्रों पर तीखे गोल मुख वाली धातु शलाका द्वारा अक्षर उत्कीर्ण किए जाते थे।

---

१. देखो श्लोक ८००–८०७।

२. 'म' से पूर्व लगने वाली रेखा-रूप 'ए' की मात्रा को 'द' और 'म' को 'श' बनाने से विक्रयपत्र में यह परिवर्तन हो पाया। यह इस लिए सम्भव था कि शारदा आदि प्राचीन लिपियों में 'ए' के लिए पड़ी मात्रा का प्रयोग होता था जो व्यंजन से पूर्व छोटी या बड़ी खड़ी लकीर के रूप में लगती थी– इस का 'द' आसानी से बन सकता है—और 'म' के ऊपर सिर की लकीर नहीं लगती परन्तु 'श' में लगती है, इस लिए सिर की लकीर भर देने से 'श' बन गया।

Aho ! Shrutgyanam

योगिनीतंत्र' के अनुसार बांस की कलमें और कांसी की सिलाइयां अच्छी नहीं होतीं; परन्तु नल (अर्थात् काने) की लेखनी तथा सोने, तांबे और रैत्य की सिलाइयां अच्छी होती हैं।

रेखा-पाटी—कागज़ पर सीधी लकीरों के निशान डालने के लिये यह लकड़ी या गत्ते की पाटी होती है जिस पर यथेष्ट अन्तर पर धागे कसे या चिपकाए होते हैं।

परिशिष्ट ३

सूची-साहित्य

जब से पाश्चात्य लोग भारत में आए तभी से वह भारतीय साहित्य को एकत्रित करने और उसके अध्ययन में लग गए। चेम्बर्ज़, मैकॅन्ज़ी आदि कई विद्वानों ने व्यक्तिगत पुस्तक-संग्रह बनाए जिन में से कई में तो संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की संख्या सहस्रों तक बहुंच गई थी। भारत और विदेश में इस संगृहीत साहित्य का सूची-निर्माण होने लगा। इस प्रकार साहित्य के इस अंग की नींव पड़ी। इस समय की छपी हुई कुछ सूचियां निम्नलिखित हैं—

सन् १८०७—सर विलियम और लेडी जोन्ज़ द्वारा रायल सोसायटी को भेंट किए गए संस्कृत तथा अन्य प्राच्य हस्तलेखों की सूची (सर विलियम जोन्ज़ के वर्क्स भाग १३, पृ० ४०१-१५, लंदन, १८०७)।

सन् १८२८—डिस्क्रिप्टिव कैटॅलाग आफ़ दि ओरियंटल मैनुस्क्रिप्ट्स कोलेक्टिड बाइ दि लेट लैफ़्टिनेंट कर्नल कोलिन मैकॅन्ज़ी, कलकत्ता।

---

१. भाग ३, पटल ८; शब्दकल्पद्रुम में लेखनी' के विवरण में उद्धृत—

"वंशसूच्या लिखेद्वर्णं तस्य हानिर्भवेद् ध्रुवम् ।
ताम्रसूच्या तु विभवो भवेन्न तत्क्षयो भवेत् ॥
महालक्ष्मीर्भवेन्नित्यं सुवर्णस्य शलाकया ।
बृहन्नलस्य सूच्या वै मतिवृद्धिः प्रजायते ॥
तथा अग्निमयैर्देवि पुत्रपौत्रधनागमः ।"
अग्निमयैश्चित्रकाष्ठमयैः ।
"रैत्येन विपुला लक्ष्मीः कांस्येन मरणं भवेत् ॥"

Aho ! Shrutgyanam

सन् १८३८—सूची पुस्तक, कलकत्ता।

सन १८४६—आटो बोटलिंक द्वारा निर्मित एश्याटिक म्यूज़ियम की सूची, सेंट पीटर्ज़बर्ग।

सन् १८५७-६१—मद्रास बोर्ड आफ़ एग्ज़ामिनर्ज़ के पुस्तकालय के प्राच्य हस्तलेखों की सूचियां, मद्रास, १८५७, १८६१।

सन् १८६५—आर० रोट द्वारा निर्मित सूची (जर्मन भाषा में)।

संस्कृत साहित्य की एक पूर्ण और बृहत् सूची की महत्ता का अनुभव करते हुए लाहौर के प्रसिद्ध पं० राधा कृष्ण ने भारत सरकार को एक पत्र लिखा जिस में इस बात की आवश्यकता पर बल दिया कि भारत तथा योरप में उपलब्ध सारे संस्कृत साहित्य की विस्तृत और सर्वांगपूर्ण सूची का निर्माण किया जाए। इस के फल-स्वरूप भारत सरकार ने इस कार्य के निमित्त प्रति वर्ष कुछ धन लगाने का निर्णय किया। इस का व्यय इन बातों के लिए निश्चित हुआ—(१) हस्तलेखों का खरीदना, (२) जो हस्तलेख खरीदे न जा सकें उन की प्रतिलिपि करवाना, (३) संस्कृत साहित्य की खोज और सूची निर्माण, और (४) एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल को उसके साहित्य प्रकाशन कार्य में सहायता देना। यह धन बंगाल बम्बई और मद्रास प्रांतों में बांट दिया गया। इस आयोजना के अनुसार जो सूचियां छपीं उन में से कुछ नीचे दी जाती हैं :—

बंगाल—

राजेन्द्रलाल मित्र—नोटिसिज़ आफ़ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, ६ भाग, कलकत्ता, १८७१—१८६८। ३ भाग—१६००, १६०४, १६०७। मित्र ने नेपाल के बौद्ध हस्त-लेखों की और बीकानेर दरबार लाइब्रेरी की भी सूचियां बनाई थीं।

देवीप्रसाद—अवध प्रांत की संस्कृत हस्तलिखित प्रतियों की सूचियां, अला-हाबाद, १८७८-१८६३।

हर प्रसाद शास्त्री—नोटिसिज़ आफ़ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स १०, ११ भाग १८६०, ६५, दूसरी सिरीज़ ४ भाग, कलकत्ता १८६८-१६११। रिपोर्ट फार दि सर्च आफ़ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, १८६५-१६००, १६०६। इन्होंने सन् १६०५ में नेपाल दरबार की लाइब्रेरी के ताड़पत्र और कागज़ के ग्रन्थों की सूची बनाई।

बम्बई—

एफ़० कीलहोर्न ने १८६६ में दक्षिण भाग के, १८७४ में मध्य प्रदेश के, १८८१ में सरकार द्वारा खरीदे हुए, और १८८४ में विश्रामबाग पूना के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियां तय्यार कीं।

Aho ! Shrutgyanam

जी० व्यूलर—गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, सिंध और खानदेश के व्यक्तिगत पुस्तकालयों के हस्तलेखों की सूचियां, ४ भाग १८७१-७३। रिपोर्ट आन दि रिज़ल्टस आफ़ दि सर्च फ़ार संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, १८७२, १८७४, १८७५। काश्मीर, राजपूताना और मध्य प्रदेश में संस्कृत हस्तलेखों की खोज का परिणाम, १८७७।

पी० पीटरसन—बम्बई प्रांत में संस्कृत हस्तलेखों की खोज पर रिपोर्टें, छ भाग, १८८३, ८४, ८७, ६४, ६६, ६६। अलवर दरबार लाइब्रेरी की सूची सन १८६२।

भांडारकर—अ रिपोर्ट आन दि सर्च आफ़ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, १८८२, ८४, ८७, ६४ और ६७। व्यक्तिगत पुस्तकसंग्रहों के संस्कृत हस्तलेखों की सूची १८६३। विश्रामबाग, पूना की सूची, भाग २, १८८४।

मद्रास—

गुस्टाव आपर्ट—लिस्ट्स आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज़ आफ सदर्न मद्रास, १८८०, १८८५।

इ० हुल्श—दक्षिण भारत के संस्कृत हस्तलेखों की रिपोर्टें, १८६५ और १६०३।

पंजाब—

काशीनाथ कुण्टे—१८७६, १८८० और १८८२ की रिपोर्टें।

सन् १६०० के लगभग से इस कार्य में भारत सरकार का इतना हस्तक्षेप न रहा जितना पहले था। अब इस सिलसिले को विश्वविद्यालयों तथा अन्य विद्वत्सभाओं ने जारी रखा और निम्नलिखित सूचियां तय्यार हुईं—

डिस्क्रिप्टिव कैटॉलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि गवर्मेंट ओरियंटल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास—भाग १ उपभाग १ एम० शेषगिरि शास्त्री, भाग १ उपभाग २-३ एम० शेषगिरि शास्त्री और एम० रंगाचार्य, भाग २-१५ और १८ एम० रंगाचार्य, भाग १६, १७ और १६ एम० रंगाचार्य और एस० कुप्पु स्वामी शास्त्री भाग २०-२७ एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री द्वारा प्रणीत। मद्रास से त्रैवार्षिक रिपोर्टें भी प्रकाशित होती हैं।

अ कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स अक्वायर्ड फार दि गवर्मेंट संस्कृत लाइब्रेरी, सरस्वती भवन, काशी, १८६७-१६१६। इसी की विवरणात्मक सूची भाग १, १६२३।

Aho ! Shrutgyanam

भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट पूना के सूचीपत्र, भाग १, १६१६; २, १६३८; १२, १६३६; १३, १६४०; १४, १६३७; १६, १६३६; १७, १६३५, १६३६, १६४० ।

एशियाटिकसोसायटी आफ बंगाल का विवरणात्मक सूचीपत्र भाग १, १६१७; २ और ४, १६२३; ३ और ५, १६२५; ६, १६३१; ७, १६३४; और ८, १६३६ ।

मिथिला के हस्तलेखों की विवरणात्मक सूची पटना, १६२७ और १६३२ ।

रायल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा की सूची, भाग १-४, १६२५-३० ।

सरस्वती महल लाइब्रेरी, तंजोर, के संस्कृत हस्तलेखों की सूची, १६ भाग ।

पंजाब युनिवर्सिटी लाइब्रेरी की सूची लाहौर, १६३१, १६४२ ।

पंजाब जैन भंडारों की सूची, लाहौर १६३६ ।

बड़ोदा से बड़ोदा सेंट्रल लाइब्रेरी, जेसलमेर और पाटण के जैन भंडारों के हस्तलेखों की सूचियां प्रकाशित हुईं, १६२५, १६२३, १६३७ ।

इन के अतिरिक्त विदेश से भी बहुत सी सूचियां प्रकाशित हुई हैं—जैसे इंगलैंड में आक्सफ़ोर्ड, केम्ब्रिज, लंडन से सूचियां निकली हैं। १६३५ में कीथ और टौमस ने इण्डिया आफ़िस लाइब्रेरी के संस्कृत और प्राकृत हस्तलेखों की सूची बनाई जो बृहत्काय और विवरणात्मक है । इसी प्रकार जर्मनी, फ्रांस, रूस, अमरीका आदि देशों से भी सूचियां प्रकाशित हो चुकी हैं ।

सन् १८६१ तक जितनी सूचियां छपी थीं उनके आधार पर औफ्रैष्ट ने एक बृहत् सूची तय्यार की जिस का नाम कैटॅलोगस "कैटॅलोगरम" है । इसमें ग्रंथों के नाम अकारादिक्रम से दिए हैं। ग्रंथ नाम के साथ जिन सूचियों में वह ग्रंथ वर्णित हो उनका उल्लेख भी कर दिया है। १८६६ और १६०३ में इस ग्रंथ के दो परिशिष्ट भी निकले जिनमें इस कालांतर में उपलब्ध और ज्ञात ग्रंथों का समावेश किया गया । इन परिशिष्टों के साथ ग्रंथकारों की सूचियां भी हैं । मूल कैटॅलोगस कैटॅलोगरम को प्रकाशित हुए ५० से अधिक वर्ष हो चुके हैं और इस के दो भाग परिशिष्ट रूप से निकल चुके हैं । इस अन्तर में बहुत सा साहित्य उपलब्ध हो चुका है और बहुत सी सूचियां भी बन चुकी हैं । अतः पिछले दिनों मद्रास विश्वविद्यालय ने एक नव कैटॅलोगस कैटॅलोगरम के निर्माण की आयोजना की है जिसका नमूना १६३७ में छपा था ।

प्रांतीय जागृति के साथ साथ प्रांतीय साहित्यों की खोज प्रारम्भ हुई और उन की सूचियां प्रकाशित हुईं । यहां पर हिंदी साहित्य की खोज की रिपोर्टों का उल्लेख करना अनुचित न होगा । १६०० से लेकर १६०६ तक तो वार्षिक रिपोर्टें, और १६०६ के पश्चात् त्रैवार्षिक रिपोर्टें निकलीं । इन का निर्माण श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु, हीरालाल आदि महानुभावों द्वारा हुआ था ।

यह लेख ओरियनएटल कालेज मेगज़ीन नवम्बर १६४२ की क्रम संख्या ७१ में छप चुका है ।

Aho ! Shrutgyanam

पं० श्रीकृष्ण दीक्षित के प्रबन्ध से, बाम्बे मैंशीन प्रेस,
मोहनलाल रोड लाहौर में छपा ।

Aho ! Shrutgyanam